जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ-341306 (राजस्थान)

दूरस्थ एवं ऑनलाइन शिक्षा केन्द्र

प्रमाण पत्र पाठ्यक्रम

विषय : योग एवं प्रेक्षाध्यान

द्वितीय प्रत्र : प्रेक्षाध्यान सिद्धान्त

लेखक
डॉ. हेमलता जोशी

संपादक
प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

कॉपीराइट
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

संस्करण : 2022

प्रकाशक
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ – 341306 (राज.)

अनुक्रमणिका

क्र. सं.	विवरण	पृ.सं.
1.	प्रेक्षाध्यान का परिचयः उद्भव और विकास	01—07
2.	प्रेक्षाध्यान के चार चरणों का दार्शनिक और वैज्ञानिक आधार (कायोत्सर्ग, अंतर्यात्रा, श्वासप्रेक्षा और ज्योतिकेंद्र प्रेक्षा)	08—41
3.	प्रेक्षाध्यान के घटक एवं लाभ	42—47
4.	जीवन विज्ञान का परिचय : उद्भव और विकास	48—57
5.	जीवन विज्ञान के घटक एवं लाभ	58—76

इकाई – 1

प्रेक्षाध्यान का परिचय : उद्भव और विकास

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 भूमिका

1.2 प्रेक्षाध्यान : परिचय

1.3 प्रेक्षाध्यान के मूलस्रोत

1.3.1 प्रेक्षाध्यान का अर्थ : व्यंजना

1.3.2 प्रेक्षाध्यान का ध्येय

1.4 प्रेक्षाध्यान का आध्यात्मिक आधार

1.4.1 द्वन्द्वात्मक अस्तित्व

1.4.2 अध्यवसाय तंत्र

1.4.3 क्रियातंत्र

1.5 प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा

1.5.1 भावक्रिया (वर्तमान क्षण की प्रेक्षा)

1.5.2 प्रतिक्रिया विरति

1.5.3 मैत्री

1.5.4 मिताहार

1.5.5 मितभाषण

1.0 उद्देश्य

इस पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है–

1. प्रेक्षाध्यान की जानकारी प्राप्त हो सकेगी।
2. प्रेक्षाध्यान के विभिन्न अंगों की जानकारी प्राप्त हो सकेगी।
3. प्रेक्षाध्यान के मूलस्रोतों की जानकारी हो सकेगी।
4. प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा की जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

1.1 भूमिका

ध्यान–योग प्राचीन परंपरा से ही भारतीय संस्कृति के अंग रहे हैं। यद्यपि पातंजल योग के अनुसार ध्यान योग का ही एक अंग है लेकिन जैन और बौद्ध परंपराओं में योग के लिए ध्यान शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। अतः प्रत्येक परम्परा की अपनी–अपनी आत्म साधना की प्रक्रिया भी कुछ–कुछ विशिष्टता लिए हुए है। प्रेक्षाध्यान जैन योग का अर्वाचीन संस्करण है। यह आचार्य श्री महाप्रज्ञ की देन है। आचार्य श्री ने वैज्ञानिक

युग की आवश्यकता के अनुसार इस नवीन साधना पद्धति को अपने अनुभव, अध्ययन व साधना से विकसित किया है। यह साधना विधि अत्याधुनिक एवं सीखने में सरल है। वैज्ञानिक विश्लेषण व व्याख्याओं से परिपूर्ण है। अतः इसे समझना भी आसान है।

1.2 प्रेक्षाध्यान : परिचय

यह सृष्टि विभिन्न पदार्थों से बनी हुई है। हर पदार्थ का अपना इतिहास होता है, मात्र पदार्थ का ही नहीं। इस वस्तु जगत की हर सत्ता का अपना ऐतिहासिक आधार है। जैसे एक बच्चे का जन्म उसकी मां के गर्भ से होता है उसी तरह हर किसी का जन्म कहीं न कहीं किसी आधार से जुड़ा होता है। मनुष्य जीवन में एक ऐसा पक्ष है जो उसे आत्म–तत्त्व की ओर ले जाता है। अब आत्म तत्त्व को कैसे जाना जाये? इसके लिए हमारे पूर्वजों ने हमें एक क्षेत्र दिया योग का, ध्यान का। उस ध्यान के क्षेत्र में अनेकों ध्यान के स्वरूप है जिनमें एक का नाम है–प्रेक्षाध्यान। यह ध्यान जैन धर्म में प्रतिपादित है। जैसा कि ज्ञात है कि जैन धर्म का आधार आगम साहित्य है। इन्हीं आगमों में जो जानने को मिलता है वही मूलतः जैन धर्म का आधार है। इन बत्तीस आगमों में कुछ ऐसे आगम है जिनमें योग साधना एवं ध्यान साधना पर वर्णन मिलता है। उस ध्यान साधना में हमें प्रेक्षाध्यान के बारे में भी जानने का अवसर मिलता है। जैसे– प्रेक्षाध्यान क्या है? इसका आधार क्या है? प्रयोजन क्या है इत्यादि।

1.3 प्रेक्षाध्यान के मूल स्रोत

प्रेक्षा के मूल स्रोत आदिनाथ ऋषभ हैं। एक घटना है। ऋषभ के पुत्र भरत ने स्नान किया। स्नान कर वे शयनकक्ष में बैठे जो शीशों का बना था। वे आसन पर बैठकर दर्पण में देखकर प्रेक्षा करने लगे। प्रेक्षा करते–करते वे केवलज्ञानी बन गए। अतः यही ध्यान की परंपरा का आदि स्रोत हो। भगवान् पार्श्व की साधना भी विशिष्ट थी उनकी साधना का प्रभाव बहुत व्यापक बना। पार्श्व के पश्चात् भगवान महावीर की साधना भी उत्कृष्ट रही। वे कई दिनों तक ध्यान साधना करते रहते थे। कभी वे ऊर्ध्वलोक को देखते तो कभी मध्यलोक को देखते थे। उनकी प्रेक्षा अनवरत चलती रहती थी। उनके निर्वाण के पश्चात् भी ध्यान साधना चलती रही और यह क्रम लंबे समय तक चला। समय के साथ–साथ इसमें भी परिवर्तन हुआ। ध्यान साधना कुछ कमजोर हो गई। मूल सिद्धांत छूटते गए और हठयोग की प्रभावी पद्धति चल पड़ी। आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचंद्र, शुभचंद्र, पूज्यपाद आदि ने पुनः ध्यान साधना को आगे तो बढ़ाया लेकिन इसका स्वरूप परिवर्तित हो गया। स्थिति ऐसी बन गई कि जैन लोग यह भूल ही गए कि उनकी भी कोई साधना पद्धति है।

आगम संपादन का कार्य चल रहा था। आचार्य महाप्रज्ञ जी उत्तराध्ययन का संपादन कर रहे थे। इसके तीसवें अध्याय में ध्यान का लंबा प्रकरण जोड़ा गया। उस संदर्भ में जैन योग के अनेक ग्रंथों का पारायण किया तथा उनका यथोचित उपयोग भी किया। आचार्य महाप्रज्ञ ने आचार्य श्री तुलसी को कहा कि ध्यान पर जैनों ने बहुत कुछ लिखा है। आचार्यश्री तुलसी ने कहा कि हां! लेकिन अब यह परंपरा छूट गई है। क्यों न इस पर अनुसंधान किया जाए–यही मंत्र था प्रेक्षाध्यान के अभ्युदय का। आचार्य तुलसी इसके मंत्रदाता बने। इस ध्यान पद्धति पर अनेक शिविरों का आयोजन होने लगा जिसके अच्छे परिणाम मिलने लगे। अंततः इस ध्यान पद्धति का नाम 1975 में प्रेक्षाध्यान रखा गया। प्रेक्षाध्यान के आगमिक तथा आगमेतर स्रोतों को संक्षेप में निम्न प्रकार जाना जा सकता है–

1. कायोत्सर्ग और श्वास प्रेक्षा का मूल स्रोत है कायोत्सर्ग शतक और आवश्यक निर्युक्ति। कहा गया है कि श्वास को मंद करें, कायोत्सर्ग में रहें।
2. शरीर प्रेक्षा का मूल स्रोत है आचारांग सूत्र। कहा गया है कि–जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्तिमन्नेसि। अर्थात् विग्रह, शरीर का जो वर्तमान क्षण है, उसका अन्वेषण करें।
3. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का मूल स्रोत है नंदी सूत्र है। इसमें सैकड़ों चैतन्य केन्द्रों की चर्चा की गई है।

4. लेश्याध्यान का प्रयोग एक आकस्मिक प्रयोग है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार–लेश्याध्यान का प्रयोग आकस्मिक ढंग से हुआ। न कभी सोचा था और न कभी चिंतन किया था। शिविर में गए, ध्यान का प्रयोग करना था। अतः लेश्याध्यान का प्रयोग सामने आया। जयाचार्य के दो ग्रंथों–छोटा ध्यान और बड़ा ध्यान में भी रंगों के ध्यान का वर्णन मिलता है।

1.3.1 प्रेक्षाध्यान का अर्थ : व्यंजना

प्रेक्षा शब्द 'ईक्ष' धातु से बना है। इसका अर्थ है देखना। प्र + ईक्षा अर्थात् प्रेक्षा। इसका अर्थ है गहराई में उतरकर देखना। यहां पर 'प्र' उपसर्ग है। प्रेक्षा में चेतना के स्थूल स्वर से सूक्ष्म स्तर तक आंतरिक घटनाओं को देखा जाता है।

1.3.2 प्रेक्षाध्यान का ध्येय

प्रेक्षाध्यान का ध्येय है आत्म साक्षात्कार। स्वयं का ज्ञान। इस अर्थ का आगमिक आधार भी मिलता है। दशवैकालिक सूत्र में आया है "संपिक्खए अप्पगमप्पएणं"। अर्थात् आत्मा के द्वारा आत्मा की संप्रेक्षा करना। स्थूल मन से सूक्ष्म मन को, स्थूल चेतना से सूक्ष्म चेतना को देखना। चूंकि ''मात्र देखना" ही ध्यान का मूलभूत तथ्य है। इसलिए भी इस ध्यान का नाम प्रेक्षाध्यान रखा गया। प्रायः ध्यान शब्द की परिभाषा भी यही की जाती है कि किसी एक निश्चित विषय पर लंबे समय तक विचार को एकाग्र करना। ध्यान के समय जब मानसिक क्रियाएँ शांत हो जाती हो तो चेतना का कार्य मात्र देखना रह जाता है। चूंकि जानना और देखना ही चेतना लक्षण है। आवृत्त चेतना में जानने और देखने की क्षमता न्यून होती है। इसीलिए ध्यान के द्वारा चेतना को अनावृत किया जाता है। आज के समय में मन के कार्यों, जैसे–चिंतन, बौद्धिक विश्लेषण, तार्किक विचारों आदि को अधिक महत्व दिया जाता है परन्तु चेतना के द्वारा देखने की शक्ति को उजागर नहीं किया जाता है, विकसित नहीं किया जाता। प्रेक्षाध्यान में जो स्व के द्वारा स्व के दर्शन की बात कही गई है, वह अध्यात्म चेतना के जागरण का महत्वपूर्ण सूत्र है। राग–द्वेष से मुक्त देखना ज्ञाता–द्रष्टा भाव से देखना इसका मूल तात्पर्य है। इस सूत्र की क्रियान्विति हम स्व के स्थूल स्तर श्वास से प्रारम्भ करते हैं। प्रथमतः श्वास को देखते हैं फिर शरीर को देखते हैं। तत्पश्चात् शरीर के भीतर होने वाले स्पंदनों, कंपनों हलचलों को देखते हैं। इन्हें देखते–देखते चित्त पटु (कुशल) हो जाता है, सूक्ष्म हो जाता है। फिर अनेक स्पन्दन देखने लग जाता है। अंततः आत्मा को देखने लग जाता है। इसका क्या प्रतिफल होता है– आचारांग सूत्र में इसका प्रमाण मिलता है। जो क्रोध मान माया लोभ, प्रियता और अप्रियता आदि दोषों को अपने भीतर देख लेता है, वह जन्म–मृत्यु और दुःख के समूल चक्रव्यूह को तोड़ देता है।

अकर्म (ध्यानस्थ) होकर अर्थात् वचन और शरीर की क्रिया का निरोध कर जो मात्र दर्शन करता है उसको उपाधि (भावनात्मक बीमारी) नहीं सताती। इसका यह कारण है कि जब हम देखते हैं तब सोचते नहीं है और जब सोचते हैं तब देखते नहीं हैं। सोचने और विचारों का जो सिलसिला चलता है, उसे रोकने का सबसे पहला और अंतिम उपाय है– देखना। जितनी भी कल्पनाएँ हैं, व्यामोह हैं, विचारों का चक्रव्यूह हैं, उन सबको निर्मूल करने का अमोघ उपाय है– देखना। जब व्यक्ति मात्र देखने लग जाता है तब इसके विचार स्थगित, शिथिल हो जाते हैं। विकल्प शून्यता की स्थिति में प्रवेश हो जाता है। अंततः हम भीतर की गहराइयों में पहुंचकर आत्मा को देखते हैं और जानते हैं। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखते हैं।

1.4 प्रेक्षाध्यान का आध्यात्मिक आधार

प्रेक्षाध्यान के आध्यात्मिक आधार को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से प्रस्तुत करने जा रहे हैं–

1.4.1 द्वन्द्वात्मक अस्तित्व

ध्यान और योग के क्षेत्र में दो पक्ष हमेशा रहते हैं। वे हैं अध्यात्म और विज्ञान। ध्यान एवं योग का अध्यात्म पक्ष क्या होगा एवं वैज्ञानिक आधार क्या होगा–बिना इसकी चर्चा–परिचर्चा के हम विषय की सम्यक् जानकारी से वंचित रहते हैं। प्रेक्षाध्यान भी ध्यान की एक विशिष्ट पद्धति है। स्वाभाविक है कि इसका भी अध्यात्म एवं विज्ञान जगत् से कुछ न कुछ संबंध अवश्य होगा। अध्यात्म और विज्ञान की तरह

हमारा अस्तित्व भी दो तत्वों के संयोग से बना है–चेतन या जीव एवं अचेतन या अजीव या जड़। यहां पर भिन्नता भी देखने मिलती है। कोई चेतन को अस्वीकार करके अनात्मवादी कहलाता है तो कोई स्वीकार करके आत्मवादी। जो आत्मवादी हैं वे आत्मा और शरीर को भिन्न मानते हैं, दो मानते हैं और चेतन के स्वतंत्र अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं। जिज्ञासा हो सकती है कि आध्यात्मिक आधार में इन सब बिंदुओं का क्या औचित्य है किन्तु ये ही सब बिंदु हमें प्रेक्षाध्यान के आध्यात्मिक आधार की दिशा में ले जायेंगे। अध्यात्म से तात्पर्य होता है आत्मा की ओर ले जाने वाला। यह सब चर्चा चेतन और अचेतन से संबंधित है। जब हम चेतन और अचेतन को स्पष्ट कर लेंगे, जब आत्म तत्व को समझ पायेंगे तब पता चलेगा कि प्रेक्षाध्यान में जो बताया जा रहा है वह किस रूप में उसके आध्यात्मिक आधार को पुष्ट करता है, क्या आत्मा का दर्शन कराया जाता है, क्या हम आत्मा की समीपता का अनुभव कर सकते हैं– इन सबका समाधान है प्रेक्षाध्यान। प्रेक्षाध्यान कहता है कि अगर हमें आत्म–तत्त्व को जानना एवं देखना है तो स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा करनी होगी। शरीर, इन्द्रिय, मन से परे चित्त, अध्यवसाय, चेतना को समझना होगा।

1.4.2 अध्यवसाय तंत्र

आत्मवादी दर्शन के अनुसार केन्द्र में है– द्रव्य आत्मा या मूल आत्मा। उस केन्द्र की परिधि में अति सूक्ष्म कर्म शरीर द्वारा निर्मित कषाय का वलय है। यद्यपि चेतन तत्त्व शासक के स्थान पर है फिर भी कषाय तंत्र इतना शक्तिशाली है कि उसकी इच्छा के बिना शासक कुछ नहीं कर पाता है। चैतन्य की प्रवृत्ति स्पंदन के रूप में होती है। इन्हें बाहर निकलने के लिए कषाय वलय को पार करना पड़ता है। पार करने पर उनका एक स्वतंत्र तंत्र दूसरे सूक्ष्म शरीर, तैजस शरीर के साथ–साथ सक्रिय होकर आगे बढ़ता है। वह बन जाता है लेश्यातंत्र। चेतना के स्पन्दन आगे बढ़कर स्थूल शरीर में उतरते हैं। वहां सबसे पहले मस्तिष्क के माध्यम से चित्त का निर्माण करते हैं।

1.4.3 क्रियातंत्र

मन, शरीर और वाणी, ये तीनों क्रियातंत्र (योग तंत्र) के अंग है क्रियान्विति के साधन हैं। ज्ञान के साधन नहीं ज्ञान तंत्र चित्त तंत्र तक और भाव तंत्र लेश्या तंत्र तक समाप्त हो जाता है। इन दोनों के निर्देशों की क्रियान्विति के लिए क्रिया तंत्र सक्रिय होता है। इसके तीन कर्मचारी हैं मन, वाणी और शरीर। मन का कार्य है स्मृति, कल्पना और चिंतन करना। मन का कार्य ज्ञान करना नहीं है। मन का कार्य है चित्त तंत्र और लेश्या तंत्र से मिलने वाले निर्देशों का पालन करना। इस प्रकार चैतन्य के स्पन्दन कषाय के वलय को पारकर अध्यवसाय के रूप में बाहर आते हो और वे लेश्या तंत्र के साथ मिलकर भावधारा बन जाते हो। स्थूल शरीर में वह भावधारा ग्रंथितंत्र के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, वह भावतंत्र कहलाता है।

भावधारा वृत्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है एवं चित्त को प्रवृत्ति क्रिया आचरण के लिए बाध्य करती है। चित्त की जागरूकता में, विवेक व प्रज्ञा के जागरण की अवस्था में चित्त अप्रभावित रहता है एवं वृत्ति विफल हो जाती है अन्यथा चित्त की मूर्च्छावस्था में वृत्ति से प्रवृत्ति एवं प्रवृत्ति से पुनरावृत्ति का दुष्चक्र चलता रहता है। प्रेक्षाध्यान जागरूकता, विवेक शक्ति एवं प्रज्ञा के जागरण का सशक्त माध्यम या साधन बनता है। वह प्रवृत्ति तंत्र अर्थात् क्रियातंत्र को नियंत्रित कर वृत्ति, भाव एवं कषाय को परिष्कृत करता है। यह आत्म साक्षात्कार व आत्म विकास के चरम शिखर पर आरोहण का आलंबन है।

1.5 प्रेक्षाध्यान की उपसम्पदा

उपसम्पदा का शाब्दिक अर्थ है सम्पदा के निकट रहना। यहाँ सम्पदा से तात्पर्य आंतरिक सम्पदा से है। अर्थात् उपसम्पदा आन्तरिक सम्पदा को प्राप्त करने के लिए मानसिक तैयारी है। अतः साधना प्रारम्भ करने से पूर्व साधक सुखासन में बैठकर बद्धांजलि होकर प्रेक्षाध्यान की उपसम्पदा स्वीकार करते हैं। शरीर को शिथिल और मन को तनावमुक्त कर निम्न सूत्रों का उच्चारण करते हैं–

"अब्भुट्ठिओमि आराहणाए।"

मैं प्रेक्षाध्यान की आराधना में उपस्थित होता हूँ।

"मग्गं उवसंपज्जामि।"

मैं अध्यात्म–साधना का मार्ग स्वीकार करता हूँ।

"सम्मत्तं उवसंपज्जामि।"

मैं अन्तर्दर्शन की उपसंपदा स्वीकार करता हूँ।

"संजमं उवसंपज्जामि।''

मैं आध्यात्मिक अनुभव की उपसम्पदा स्वीकार करता हूँ।

ये चार प्रेक्षाध्यान की उपसंपदाएँ हैं। मात्र उपसंपदा स्वीकार करने से ही इसका तात्पर्य नहीं है अपितु उपसम्पदा की कुछ चर्या, प्रक्रिया या नियम बताए गए हैं जिनका अनुपालन उपसंपदा में प्रवेश हेतु आवश्यक है। उसके मूलभूत पांच सूत्र हैं–1. भाव क्रिया 2. प्रतिक्रिया विरति 3. मैत्री 4. मिताहार 5. मितभाषण।

मितभोजन मितभाषिता, मैत्री का आधार।
प्रतिक्रिया से शून्य हो, क्रिया स्वयं निर्भार।
सदा साधना में रहे, भावक्रिया उदार।
पांचों ही ये सूत्र हो, सच्चे पहरेदार।।

1.5.1 भावक्रिया (वर्तमान क्षण की प्रेक्षा)

भावक्रिया के तीन अर्थ हैं–वर्तमान में जीना, जानते हुए करना, सतत् अप्रमत्त रहना।

जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है वह सहज ही राग–द्वेष से बच जाता है। राग–द्वेष शून्य वर्तमान क्षण को देखने वाला नए कर्म–संस्कार के बंध का निरोध करता है।

वर्तमान को जानना और वर्तमान में जीना ही भावक्रिया है। यांत्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना और कल्पना लोक में उड़ान भरना द्रव्यक्रिया है।

हम सभी अधिकांशतः भूत एवं भविष्य में जीते है। वर्तमान को भूल जाते हैं जबकि वास्तविकता तो वर्तमान है। अतीत और भविष्य दोनों ही वास्तविक नहीं है। वर्तमान जब हाथ से छूट जाता है तब उसे पुनः पकड़ पाना असंभव है। वास्तविकता यह है कि जो कुछ घटित होता है वह नहीं रहता और प्राप्त को अप्राप्त स्वरूप प्रदान करा देता है।

भावक्रिया का दूसरा अर्थ है– जानते हुए करना (हम जो भी करते हैं वह पूरे मन से नहीं करते, मन के टुकड़े कर देते हैं। काम करते हैं पर मन कहीं भटकता रहता है। वह काम के साथ जुड़ा नहीं रहता। कार्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित हुए बिना उसका परिणाम अच्छा नहीं आता। इसमें शक्ति अधिक क्षीण होती है, अनावश्यक व्यय होता है और काम पूरा नहीं होता। अतः हम जिस समय में जो काम करें, उस समय हमारा शरीर और मन दोनों साथ–साथ चलें।

भावक्रिया का तीसरा अर्थ है– सतत् अप्रमत रहना। साधक को ध्येय एवं मूल प्रयोजन के प्रति सतत् अप्रमत्त और जागरूक रहना चाहिए। ध्यान का पहला ध्येय है आत्म साक्षात्कार और मूल प्रयोजन है चित्त की निर्मलता। ध्यान का दूसरा प्रयोजन है सुप्त शक्तियों को जागृत करना। इन दोनों के प्रति सतत् जागरूक रहना भावक्रिया है।

1.5.2 प्रतिक्रिया विरति

उपसंपदा का दूसरा अर्थ है–क्रिया करना, प्रतिक्रिया न करना। जो व्यक्ति प्रतिक्रया का जीवन जीता है वह बाह्य वातावरण और परिस्थिति से प्रभावित होकर कार्य करता है। वह आवेग या उत्तेजना के

वशीभूत होकर कार्य करता है। यह प्रतिक्रिया है, क्रिया नहीं। अध्यात्म साधना का अर्थ है–प्रतिक्रिया से बचना। साधक क्रिया करे प्रतिक्रिया नहीं। अन्यथा गाली के प्रति गाली, ईंट का जबाब पत्थर से, "शठे शाठ्यम समाचरेत्", 'Tit for Tat'–ये सब बातें चलती हैं। इन्हें रोका नहीं जा सकता। इन्हें केवल वही व्यक्ति रोक सकता है जिसने इस सच्चाई को समझ लिया है कि स्वतंत्र अस्तित्व का धनी व्यक्ति प्रतिक्रिया का जीवन न जीए अपितु क्रिया का जीवन जीए।

1.5.3 मैत्री

उपसंपदा का तीसरा सूत्र है मैत्री। साधक का पूरा व्यवहार मैत्री से ओत–प्रोत हो। उसमें मैत्री की भावना का पूर्ण विकास हो। आगम में आया है–

खामेमि सव्वजीवे, सव्वेजीवा खमंतु मे।

मित्ती मे सव्व भूएसु, वैरं मज्झ न केणई।।

अर्थात् में सब जीवों को क्षमादान देता हूं, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। सभी प्राणी मेरे मित्र हैं, कोई भी मेरा शत्रु या वैरी नहीं है।

प्रेक्षाध्यान से आत्म–दर्शन, स्वयं का बोध होता है। दूसरे प्राणियों में स्थित आत्म तत्व का बोध होता है। इससे अनेकता में भी एकता की अनुभूति होती है। यहां भेद में भी अभेद ज्ञान पुष्ट होता है। साधक का व्यवहार मैत्रीपूर्ण बनता है अतः साधक साधना में जैसा स्वयं को देखे वैसे ही दूसरों में इस परम आत्म–तत्व को देखने का अभ्यास करे। मैत्री भावना का विकास करे।

1.5.4 मिताहार

उपसंपदा का चौथा सूत्र है– मिताहार। मिताहार का साधना से महत्त्वपूर्ण स्थान है। भोजन का प्रभाव केवल स्वास्थ्य पर ही नहीं होता, ध्यान और चेतना पर भी उसका प्रभाव होता है। अनावश्यक किया हुआ भोजन पच नहीं पाता है क्योंकि उसे पचाने वाला रस पूरी मात्रा में नहीं मिल पाता है। भोजन इतना ही पचता है जितना उसे पाचक–रस प्राप्त होता है। शेष व्यर्थ हो जाता है। इससे सड़ांध पैदा होती है। मल आंतों में जम जाता है, इससे सारा नाड़ी मण्डल दूषित हो जाता है। इससे मन और विचार भी दूषित होते हो। चेतना पर आवरण आता चला जाता है। साधक को भोजन का पूरा ज्ञान होना चाहिए साथ ही कौन सा भोजन क्या परिणाम लाता है, उसका भी ज्ञान होना चाहिए। कहा गया है– जैसा खाए अन्न, वैसा बने मन। अतः हमें अपने सोचने की शक्ति को सम्यक बनाना होगा। साथ ही आहार के संपूर्ण स्वरूप पर भी ध्यान देना होगा। यहां आहार की गुणवत्ता एवं मात्रा दोनों ही प्रभावी कारक हैं।

1.5.5 मितभाषण

उपसंपदा का पांचवा सूत्र है– मितभाषण या मौन। बोलना इसलिए आवश्यक होता है कि हम जनसंपर्क में हैं। बोले बिना रहा नहीं जाता किन्तु कम बोलना साधना है। इसका अर्थ यह नहीं कि जीवन भर मौन रहें। अनावश्यक न बोलें। बोलना पड़े तो धीमें बोलें। यह मध्यम मार्ग अच्छा है। इससे व्यवहार भी नहीं टूटता और शक्ति का अनावश्यक व्यय भी नहीं होता। कम बोलना साधना का महत्वपूर्ण अंग है। इससे शक्ति संचित होती है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्रेक्षाध्यान साधना की एक सरल, सुव्यवस्थित पद्धति है जिसका उपयोग जीवन में कई संदर्भों के लिए किया जा सकता है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. प्रेक्षाध्यान का नामकरण कब हुआ?
2. प्रेक्षाध्यान का अर्थ क्या है?
3. प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग कितने हैं?
4. कायोत्सर्ग का अर्थ क्या है?
5. अनिमेष प्रेक्षा क्या है?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. प्रेक्षाध्यान का ध्येय बताइए।
2. प्रेक्षाध्यान के आध्यात्मिक आधार को स्पष्ट कीजिए।

3. निबंधात्मक प्रश्न–

1. प्रेक्षाध्यान के अंगों का स्पष्ट कीजिए।

इकाई – 2

प्रेक्षाध्यान के चार चरणों का दार्शनिक और वैज्ञानिक आधार

(कायोत्सर्ग, अंतरयात्रा, श्वासप्रेक्षा और ज्योतिकेंद्र प्रेक्षा)

कायोत्सर्ग

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 भूमिका

2.2 कायोत्सर्ग का स्वरूप

2.3 कायोत्सर्ग का प्रयोजन

2.3.1 मनःकायिक (Psychosomatic) प्रयोजन

2.4 कायोत्सर्ग का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

2.4.1 दबाव की कार्य पद्धति

2.4.2 दबाव का प्रभाव

2.4.3 परानुकंपी तंत्र का प्रभाव

2.4.4 तनाव से हानियाँ

2.4.5 तनाव के कारण

2.4.6 तनाव मुक्ति के उपाय

2.5 कायोत्सर्ग का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

2.5.1 शक्ति सुरक्षा

2.5.2 स्वभाव परिवर्तन

2.5.3 चित्त शुद्धि

2.5.4 समस्या का समाधान

2.6 कायोत्सर्ग की निष्पत्तियां

2.6.1 तनाव–मुक्ति

2.6.2 चंचलता की निवृत्ति

2.6.3 शरीर पर प्रभाव

2.6.4 सूक्ष्म शरीर की घटनाओं का ज्ञान

2.6.5 आभामण्डल का दर्शन

2.6.6 ज्ञाता–द्रष्टा भाव का जागरण

2.6.7 विवेक चेतना का जागरण

2.6.8 व्युत्सर्ग–चेतना का जागरण

2.6.9 प्रज्ञा का जागरण : समता का विकास

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है–

1. कायोत्सर्ग के प्रयोजन को समझा जा सकेगा,
2. कायोत्सर्ग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझा जा सकेगा,
3. कायोत्सर्ग की निष्पत्तियों को समझा जा सकेगा।

2.1 भूमिका

मानव जीवन विश्व–वृत्त पर सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण करता है। विश्व की अनेक संस्कृतियों में एक है भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति जो अति प्राचीन है। जिस मानव जीवन से भारतीय संस्कृति का उद्भव हुआ है उसी मानव जीवन को पुनः पोषित करने का कार्य भी इसी संस्कृति के माध्यम से दीख पड़ता है। आज हमारी भारतीय संस्कृति इतनी समृद्ध एवं संस्कारित है कि वह हमें जीवन के प्रत्येक पहलू की जानकारी देती है। हर आने वाले क्षण के प्रति सावधान कराती है। मूलतः यह सम्पूर्ण संस्कृति स्वयं में अनेक विधाओं को समाहित किए हुए हो जो हमारे जीवन को विभिन्न दृष्टिकोणों से संचालित करती रहती है। प्राचीन समय से अद्यतन शांति, सौहार्दपूर्ण जैसे नैतिक मूल्यों की स्थापना एवं अस्तित्व की प्रेरणा देने वाली एक विद्या है– अध्यात्म योग।

आज हम विज्ञान के क्षेत्र में उसके विकास को देखें। छोटे से समयान्तराल में उसने विश्व क्षितिज एवं जटिल मानवीय जीवन की अनेक परतों को सामने खोल कर रख दिया है। सम्पूर्ण मानव–जाति को अनेक सुख–सुविधाओं से सम्पन्न बनाया है। भोग–विलासिता को जीते हुए जब व्यक्ति रोगग्रस्त होता है, उसका भी समाधान विज्ञान ने दिया है किंतु कुछ ऐसी सीमाएँ या बीमारियाँ हो जिनके अभी तक विज्ञान भी समाहित नहीं कर पाया है। तब जाकर हम सिंहावलोकन करते हैं, अध्यात्म योग में प्रवेश करते हैं जहाँ उपचार के साथ–साथ स्वस्थता में निरंतरता बनाए रखने के भी उपाय उपलब्ध हैं। तनाव जैसी अनसुलझी समस्या के लिए योग एक उपाय बताता है, शिथिलीकरण अर्थात् कायोत्सर्ग। इस पद्धति को अनेक वैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों ने प्रयोग एवं शोध के द्वारा प्रमाणित किया है।

2.2 कायोत्सर्ग का स्वरूप

ध्यान का अर्थ है–प्रवृत्ति का निरोध। महर्षि पतंजलि ने भी कहा है कि योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। चित्तवृत्ति या प्रवृत्ति किसी बिन्दु तक समान होती है। मानव जीवन में ये प्रवृत्तियां कायिक, वाचिक और मानसिक स्तर पर विभिन्न रूपों में पाई जाती हो। शरीर की चंचलता, वाणी का प्रयोग और मन की क्रिया–इन सबको भी एक शब्द में योग कहा जाता है। इन तीनों का निरोध करना ही ध्यान या योग का उद्देश्य है। परिणामतः ध्यान के भी तीन प्रकार हो जाते हो–कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान एवं मानसिक ध्यान। इनमें से कायिक ध्यान ही कायोत्सर्ग कहलाता है। इसे काय–गुप्ति, काय–संवर, काय–विवेक, काय–व्युत्सर्ग और काय–प्रतिसंलीनता भी कहा जाता है। कायोत्सर्ग का अर्थ है–काय या शरीर का व्युत्सर्ग और चैतन्य की जागृति। यहां पर शरीर के व्युत्सर्ग से तात्पर्य है शरीर की बाह्य स्थूल प्रवृत्तियों का निरोध, सभी ऐच्छिक मांसपेशियों की शिथिलता एवं चयापचय जैसी सूक्ष्म आंतरिक क्रियाओं का मंदीकरण। इस शारीरिक स्थिति में मात्र शरीर की गति की मंदता नहीं अपितु सहज ही साथ में मानसिक तनाव का भी विसर्जन होता है।

मानसिक एकाग्रता के लिए प्रथमतः आवश्यक है– शरीर की स्थिरता और शिथिलता। शरीर स्थिर तो चित्त भी स्थिर। मात्र शरीर स्थिर होने से भी चित्त की स्थिरता प्राप्त नहीं होती जब तक अंतर्मौन की साधना नहीं सधती। उसके लिए आवश्यक है कि शरीर का कायोत्सर्ग करने के बाद स्वरयंत्र का शिथिलीकरण किया जाए। स्वरयंत्र एक ऐसा अंग है जो अनैच्छिक एवं आंतरिक अंग होते हुए भी हमारी बाहर की प्रवृत्तियों को प्रभावित करता है। मनुष्य का हर विचार स्वरयंत्र की चंचलता से पैदा होता है। हमें

इस चंचलता को कम करना है। तभी हम अन्तर्मौन की स्थिति को प्राप्त कर सकेंगे और अन्तर्मौन सध जाने पर मन की स्थिरता सहज ही प्राप्त होती है।

कायोत्सर्ग से मन की स्थिरता के अतिरिक्त तनाव–मुक्ति, असीम शांति, असीम आनंद, अविचलित अवस्था का अनुभव और अंततः शरीर और चेतना की पृथक्ता की अनुभूति होती है। इसे दूसरे शब्दों में भेद–विज्ञान भी कहा जाता है। शारीरिक और मानसिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास बहुत फलदायी है। यह तनाव से उत्पन्न होने वाली विभिन्न मनोकायिक विषमताओं का निर्दोष एवं सक्षम उपाय है।

2.3 कायोत्सर्ग का प्रयोजन

कायोत्सर्ग के दो मुख्य प्रयोजन निम्न हैं–

2.3.1 मनःकायिक (Psychosomatic) प्रयोजन

उच्च रक्तचाप की बीमारी होने पर भी बहुत वर्षों तक उसके रोग–लक्षण सामान्यतः सामने नहीं आते हैं क्योंकि इस बीमारी का मायावी स्वभाव अपना खतरनाक प्रभाव छिपाकर अपने आपको निर्दोष प्रतीत कराता है। अंततोगत्वा यह बीमारी हृदय या मस्तिष्क को क्षतिग्रस्त कर देती है अथवा व्यक्ति को एकाएक मृत्यु के मुंह में ढकेल देती है। यह बीमारी प्रत्यक्ष रूप में अथवा धमनियों के कड़ेपन के बढ़ जाने से परोक्ष रूप में हृदय और मस्तिष्क के ऊतकों के विनाश का कारण बन जाती है। जब धमनी का कड़ापन बढ़ जाता है तब सामान्य रूप से उसका विनाश हमारे तीन प्राणाधार (Vital) अवयवों में से किसी एक को बनाया जाता है–हृदय, मस्तिष्क या गुर्दे।

उच्च रक्तचाप या हाइपरटेंशन हृदय को ऊंचे दबाव पर रक्त पम्प करने के लिए बाध्य कर देता है। इससे हृदय को अधिक कठोर श्रम करना पड़ता है तथा इस पर क्षतिकारक दबाव पड़ता है। उक्त रक्तचाप की यह बीमारी इसीलिए ज्यादा खतरनाक है कि इससे धमनियों के कड़े बनने की गति तेज हो जाती है। धमनियों के कड़ेपन का मुख्य कारण है– धमनियों के अंदर की दीवालों पर रक्त के थक्के, वसा (या चर्बी) और कैल्शियम आदि की परत जमना सामान्य रूप से नरम और लचीलापन नष्ट हो जाता है तथा वे आंशिक रूप से अथवा पूर्ण रूप से अवरुद्ध हो जाती हो। इस अवरोध या रुकावट के घोर परिणाम आ सकते हैं।

धमनियों के कड़ेपन की बीमारी (etheros-clerosis) होने का खतरा रक्तचाप बढ़ाने के साथ बढ़ता जाता है अर्थात् जितना–जितना रक्तचाप बढ़ता है, उतना–उतना खतरा बढ़ता है। यदि हृदय–धमनियाँ (Coronaries), जो बहुत पतली होती है अवरुद्ध हो जाएँ तो हृदय की कोशिकाओं की मृत्यु हो जाती है तथा दिल का दौरा पड़ जाता है। यदि मस्तिष्क की धमनियों में अवरोध पैदा हो जाए तो मूर्च्छा, मस्तिष्क की नस का फटना (Brain Haemorrhage) या पक्षाघात के दौरे पड़ना आदि घटित हो सकता है। इस प्रकार सतत् बने रहने वाला उच्च रक्तचाप या हाइपरटेंशन हार्ट–अटैक का एक अप्रत्यक्ष कारण है।

हाइपरटेंशन का एक प्रमुख प्रकार है–अव्याख्येय (essential) हाइपरटेंशन जिसका अनुपात है– 90 से 95 प्रतिशत। इनके कारणों का अब तक पता नहीं चला है। सामान्य रूप से मानसिक दबाव (या तनाव) को इसका कारण माना जाता है। क्रोध, भय, चिंता जैसे भावात्मक आवेश, आवेग इसके होने में मुख्य रूप से कारणभूत होते हो। यद्यपि यह बात सामान्य रूप से मानी जाती है, फिर भी चिकित्सा शास्त्रियों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। दबावपूर्ण स्थितियां और इनसे उत्पन्न होने वाले तनाव बहुधा इस प्रकार के अव्याख्येय हाइपरटेंशन के प्रत्यख या परोक्ष निमित्त बन सकते हैं।

यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या हम हाइपरटेंशन के अपरिहार्य खतरनाक परिणामों से बच सकते हैं? क्या हमारे शरीर के भीतर ऐसी कोई प्रणाली है जो दबाव की प्रणाली से नितांत विलोम रूप में कार्य कर सके?

इसका उत्तर है– हाँ। सौभाग्य से हमारे शरीर में दबावपूर्ण स्थितियों का प्रतिकार करने के लिए एक आन्तरिक प्रणाली है, जिसे सक्रिय करने से निश्चित रूप से रक्तचाप को घटाया जा सकता है। हाइपरटेंशन के मरीजों को इस प्रतिरक्षात्मक प्रणाली को प्रवर्तित करना सिखाया जा सकता है जिससे वह अपने रक्तचाप को कम कर सकता है।

कायोत्सर्ग का प्रयोग रक्तचाप को कम करने का एक उपचार है। युगों–युगों से यह प्रयोग मानवीय परम्पराओं में प्रचलित रहा है। चूंकि निरंतर बने रहने वाला उच्च रक्तचाप धमनी–काठिन्य जैसी खतरनाक बीमारी पैदा करने में निमित्तभूत होता है, आनुषंगिक दुष्परिणाम न हो ऐसे किसी भी उपाय से रक्तचाप को कम करना श्रेयस्कर होगा। हाइपरटेंशन का प्रतिकार करने वाली औषधियाँ हमारे अनुकंपी नाड़ी–संस्थान की प्रवृत्ति को निरुद्ध कर रक्तचाप को कम कर देती है किंतु ऐसी औषधियां खतरनाक आनुषंगिक दुष्परिणाम लाती हो और उससे अधिक गंभीर समस्याएँ पैदा हो सकती हैं। उपर्युक्त औषधियों की तरह कायोत्सर्ग के प्रयोग से उच्च रक्तचाप को कम किया जा सकता है पर यह एक निरापद मार्ग है। कायोत्सर्ग के नियमित अभ्यास का मूल्य इसलिए बढ़ जाता है कि औषधियों के साथ उत्पन्न होने वाले आनुषंगिक दुष्परिणामों का कायोत्सर्ग के प्रयोग में सर्वथा अभाव होता है।

कायोत्सर्ग करने का एक अन्य मुख्य कारण है उसकी भावनात्मक रोगों को रोकने की शक्ति। अनुकंपी नाड़ी संस्थान की अत्यधिक सक्रियता के दुष्परिणामों से बचने का यह एक सहज और निरापद मार्ग है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह प्रयोग उन भावनात्मक बीमारियों को भी शांत करने का बहुत उपयोगी उपाय है जिनकी उत्पत्ति बढ़ी हुई अनुकंपी–नाड़ी संस्थान की सक्रियता पर आधारित है।

कायोत्सर्ग का एक उपचारात्मक प्रयोग के रूप में दूसरा महत्त्वपूर्ण उपयोग है–धूम्रपान, मद्यपान जैसे मादक पदार्थों के व्यसन से पीड़ित व्यक्ति को व्यसन–मुक्त करना। भांग, चरस, गांजा, अफीम एवं उससे निकाले गए हेरोइन, कोकीन तथा एल.एस.डी. आदि खतरनाक नशीले या घातक पदार्थ हो जो सेवन करने वाले व्यक्ति के स्वास्थ्य को बुरी तरह से बिगाड़ देते हो तथा बहुधा उसे अकाल मृत्यु के मुंह में धकेल देते हैं।

प्रेक्षाध्यान पद्धति के विभिन्न ध्यान–प्रयोगों के साथ कायोत्सर्ग के नियमित अभ्यास द्वारा कोई भी व्यक्ति सर्वथा व्यसन–मुक्त हो सकता है। इतना ही नहीं, वस्तुतः कायोत्सर्ग का प्रभाव व्यक्ति की उन मौलिक प्रवृत्तियों पर पड़ता है, जो उसे नशे का सेवन करने के लिए बाध्य कर देती हैं। इस प्रकार कायोत्सर्ग नशीले पदार्थों का एक अरासायनिक विकल्प है जो सर्वथा निर्दोष या निरापद ही नहीं अपितु स्वास्थ्यवर्धक है। नशीले पदार्थों के सेवन से जो मस्ती आती है उसकी अपेक्षा ध्यान द्वारा होने वाली आनंदानुभूति अधिक गहरी और निर्दोष होती है।

2.4 कायोत्सर्ग का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

कायोत्सर्ग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझने के लिए निम्न बिन्दुओं को समझना आवश्यक है–

2.4.1 दबाव की कार्य पद्धति

कायोत्सर्ग तनाव–विसर्जन की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को सीखना स्वस्थ रहने के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बोध–पाठ है। कायोत्सर्ग का अभ्यास दबाव द्वारा उत्पन्न हानिकारक प्रभावों को निष्फल करने के लिए किया जाता है। कायोत्सर्ग क्या है? इसे समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि दबाव क्या है?

''दबाव'' शब्द भौतिक शास्त्र का शब्द है जो पदार्थ के किसी भाग पर पड़ने वाले चाप या दाब का द्योतक है। जब किसी भी पदार्थ पर पड़ने वाले दाब से पदार्थ के आकार में परिवर्तन हो जाता है तो उसे तनाव या टान कहा जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत संदर्भ में तनाव का अर्थ होगा–व्यक्ति के सामान्य सुख–चैन पूर्ण जीवन में पैदा होने वाली गड़बड़ी, परिवर्तन या बेचैनी। जो भी परिस्थिति हमारी सामान्य जीवनधारा को अस्त–व्यस्त कर दे

उसे तनाव पैदा करने वाली परिस्थिति या दबाव कहा जाता है। दबाव या तनाव पैदा करने वाली स्थितियाँ आंतरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की होती हो। ''दबाव'' विषयक अंतर्राष्ट्रीय अधिकृत विद्वान डॉ. हान्स सेल्ये के अनुसार सर्दी–गर्मी, गुस्सा, मादक वस्तुओं का सेवन उत्तेजना, दर्द, शोक और हर्ष भी– ये सारे ''दबाव–तंत्र'' को समान रूप से सक्रिय बनाते हैं। आधुनिक मनुष्य के मानस में पैदा होने वाली ईर्ष्या प्रतिस्पर्धा घृणा या भय के भाव सत्ता और संपत्ति के लिए संघर्ष, लालसाएँ और वह भी ''दबावतंत्र'' को प्रवर्तित कर देते हैं।

जब तनावोत्पादक परिस्थिति का दबाव व्यक्ति के सामने उपस्थित होता है तब तुरन्त ही एक आंतरिक तंत्र स्वतः ही सक्रिय हो उठता है जो दबाव तंत्र कहलाता है। इस तंत्र में शरीर के निम्नलिखित हिस्से सक्रिय रूप से भाग लेते हैं–

(क) हाइपोथेलेमस (अवचेतक)–यह नाड़ी–तंत्र का संधि–स्थल है। यह हमारे मस्तिष्क का अत्यंत महत्त्वपूर्ण भाग है। यह उन सभी क्रियाओं का संयोजन करता है जो सामान्य रूप से चेतन मन द्वारा नियंत्रित नहीं होती है।

(ख) पिच्यूटरी ग्रंथि–यह अंतःस्रावी ग्रंथि–तंत्र की प्रधान ग्रंथि है। इससे अन्य ग्रंथियों का नियमन (रेगुलेशन) होता है।

(ग) एड्रीनल ग्रंथियाँ–ये एड्रीनालीन (एपिनेफ्रीन) एवं अन्य हार्मोनों का स्राव करती हैं जिनसे व्यक्ति तनावयुक्त एवं सावधान होता है।

(घ) स्वायत नाड़ी संस्थान का अनुकंपी विभाग–यह विपत्ति की स्थिति में व्यक्ति को आक्रमण के लिए या भागने के लिए या भगाने के लिए अंतिम रूप से तैयार करता है।

2.4.2 दबाव का प्रभाव

उपरोक्त दबाव तंत्र के संयुक्त क्रियाकलाप से शरीर के भीतर घटित होने वाली शारीरिक स्थिति का क्रम इस प्रकार होगा–

1. पाचन क्रिया मंद या बिल्कुल स्थगित हो जाती है।
2. लार–ग्रंथियों का कार्य स्थगित हो जाता है जिससे मुख सूख जाता है।
3. चयापचय की क्रिया में तेजी आ जाती है।
4. श्वास तेजी से चलने लगती है तथा हॉफ चढ़ जाती है।
5. यकृत द्वारा संग्रहित शर्करा को अतिरिक्त रूप से रक्त–प्रवाह में छोड़ा जाता है जिसके माध्यम से उसे हाथ–पैर की मांसपेशियों को पहुंचाया जाता है।
6. शरीर के जिन भागों को अधिक रक्त की जरूरत हो वहां तक उसे पहुंचाने के लिए हृदय की धड़कन बढ़ जाती है।
7. रक्तचाप बढ़ जाता है।
8. शरीर में विद्युत एवं रासायनिक स्रावों (हार्मोनों) की ऊर्जा अत्यधिक मात्रा में पैदा होती है ताकि हम अपनी क्रियाओं को तेज कर सकें। यदि कुछ करने की आवश्यकता न हो तो यह अतिरिक्त ऊर्जा मांसपेशियों में ''तनाव'' के रूप में प्रतिबद्ध हो जाती है, ठहर जाती है।

2.4.3 परानुकंपी तंत्र का प्रभाव

संकट की स्थिति समाप्त होने पर तनी हुई मांसपेशियां शिथिल हो जाती हैं। सामान्य प्रवृत्तियां पुनः चालू हो जाती हैं। इस शांतिपूर्ण स्थिति को पुनः स्थापित करने का दायित्व स्वतः चालित नाड़ी तंत्र के दूसरे विभाग–परानुकंपी संस्थान पर होता है। यद्यपि अनुकंपी और परानुकंपी संस्थान का कार्य एक–दूसरे से विपरीत जैसा दिखाई देता है फिर भी ये एक–दूसरे के साथ तालमेल बिठाकर कार्य करते हैं। परानुकंपी

संस्थान का कार्य है–अनुकंपी संस्थान के कार्य को संतुलित करना। तदनुसार संकट की स्थिति समाप्त होने पर परानुकंपी संस्थान का सक्रिय होना स्वाभाविक है। उसकी सक्रियता अनुकंपी संस्थान से निष्पादित उत्तेजना को समाप्त कर मांसपेशियों की रासायनिक स्थिति को पुनः सामान्य बनाकर उन्हें शिथिल करती है। जहां अनुकंपी संस्थान आक्रमणशील और उत्तेजनावर्धक है वहां परानुकंपी संस्थान मरम्मत करने वाला और शांतिवर्धक हैं। जब दोनों संस्थानों का कार्य सामान्य स्थिति में होता है। अर्थात् दोनों में संतुलन बना रहता है तब शरीर में सक्रियता और विश्राम/शांति का आवर्तन लयबद्ध गति से ठीक उसी प्रकार चलता है जैसा झूमा–झूमी में होता है। जब संतुलन बिगड़ता है तब तनाव की खतरनाक स्थिति पैदा हो जाती है। वर्तमान युगीन जीवनशैली व्यक्ति को निरंतर उत्तेजित और सक्रिय बनाए रखती है। ऐसे अवसर पर मरम्मत करने वाले उपकरण अर्थात् परानुकंपी संस्थान को अपना कार्य करने का मौका ही नहीं मिलता। फलतः शरीर की मांसपेशियों और स्नायु अपनी सहज शिथिल और शांत अवस्था कदाचित् ही प्राप्त कर पाते हैं।

2.4.4 तनाव से हानियाँ

मनुष्य सहित सभी प्राणियों में यह दबाव–तंत्र विद्यमान होता है। यह दबाव–तंत्र प्रणी को संकट की स्थिति का मुकाबला करने या उससे भागने के लिए तैयार करता है। यह तंत्र परिस्थिति उपस्थिति होने पर अनैच्छिक रूप से (स्वतः) घटित होता रहता है। जब संकट की स्थितियाँ बार–बार आती हैं तब यह ''दबाव–तंत्र'' बार–बार सक्रिय होता है। यदि ऊपर वर्णित शारीरिक स्थितियाँ लम्बे समय तक बनी रहें या बार–बार उनका पुनरावर्तन होता रहे तो गंभीर गड़बड़ी पैदा हो सकती है। यदि इस प्रकार रक्तचाप लगातार ऊंचा बना रहे और रक्तवाहिनियों की संकुचित स्थिति लगातार बनी रहे तो उसका परिणाम हो सकता है–दिल का दौरा, रक्ताघात (हेमरेज–मस्तिष्क की रक्तवाहिनी का फट जाना)। यदि आमाशय आदि पाचन अवयवों को मिलने वाली रक्त की मात्रा लम्बे समय तक क्षीण रहे तो पाचन क्रिया में गड़बड़ी हो सकती है। यदि श्वास की गति लम्बे समय तक लगातार तेज बनी रहे तो उसका परिणाम दमा आदि श्वास की बीमारियों के रूप में हो सकता है। मांसपेशियों के लम्बे समय तक लगातार तनाव से सिर, पीठ, गर्दन और कंधों में दर्द और पीड़ा पैदा हो सकती है। इन गड़बड़ियों के अलावा निरंतर तनाव से मानसिक आतंक की भावना पैदा हो सकती है जो निरंतर अकारण भय के रूप में पीछा कर सकती है। यह न केवल भयावह स्थिति होगी अपितु मनुष्य को बिल्कुल निर्वीर्य और हताश बनाने वाली सिद्ध हो सकती है। इसका कारण है कि लगातार दबाव की स्थिति रहने परग्रंथि तंत्र पहले गड़बड़ा जाता है और बाद में समूचा कार्य करना ही बंद कर देता है। एड्रीनलीन का स्राव बंद हो जाए तो हृदय की गति मंद हो जायेगी, रक्तवाहिनियां शिथिल हो जायेगी तथा मस्तिष्क को पहुंचने वाला रक्त बंद हो जाएगा जिससे बेहोशी आ सकती है।

इन समस्याओं के अतिरिक्त निरंतर कसे हुए जबड़े, तनी हुई भृकुटियां और आमाशय की मांसपेशियों का कड़ापन– ये अति तनाव की स्थिति के कुछ प्रत्यक्ष चिह्न हैं। इस स्थिति में हमारे शरीरस्थ विद्युत–चुम्बकों का तीव्र विद्युत–प्रवाह के कारण अति चुम्बकीकरण (Over magnetization) हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप हमारी मांसपेशियों के दल एक स्थायी संकुचन की स्थिति में बने रहते हो जो कि बहुत बार अनावश्यक होता है। इसके कारण हमारी स्नायविक और मांसपेशीय ऊर्जा का एक बहुत बड़ा हिस्सा व्यर्थ चला जाता है क्योंकि इस स्थिति में विद्युत का निरंतर व्यय होता है। ऊर्जा का व्यय कितनी मात्रा में होगा, इस बात का आधार क्रियावाही मांसपेशियों की संख्या पर है न कि उनकी लंबाई–चौड़ाई पर या उनकी शक्ति पर। जैसे–चेहरे की एक छोटी–सी मांसपेशी को संकुचित करने में उतनी ही स्नायविक ऊर्जा का व्यय होता है जितनी कि पैर की एक बड़ी मांसपेशी को सक्रिय करने में होती है। इस प्रकार ऊर्जा का होने वाला समग्र व्यय क्रियावाही तंतुओं की संख्या और विद्युत–वाहकों के भीतर चलने वाले विद्युत–प्रवाह के सामर्थ्य– इन दोनों पर निर्भर है। दूसरी विशेष बात यह है कि जहां हमारे अन्य ऊतकों में प्रतिदिन लाखों और करोड़ों की संख्या में निकम्मी और मृत कोशिकाओं का स्थान नई और स्वस्थ कोशिकाएँ ले लेती हैं। वहां स्नायविक कोशिकाओं को उनके पुरानी या मृत होने पर भी बदला नहीं जा सकता। ज्यों–ज्यों व्यक्ति की आयु बढ़ती है, स्नायविक कोशिकाओं की संख्या निरंतर घटती जाती है। यदि किसी भी कारण से हम उन्हें आहत कर देते हैं। (उदाहरणार्थ– मानसिक दबाव के रूप में उनसे अधिक

काम लेने पर ऐसा घटित होता है) तब हम सदा–सदा के लिए उन्हें आहत कर देते हैं जो अपने पीछे अपूरणीय क्षति छोड़ जाती है।

इस प्रकार अनेक रोगों को पैदा करने में तनाव का बहुत बड़ा हाथ साबित हो रहा है। यदि हम तनाव के दुष्परिणामों से बचना चाहते हैं तो हमें ऐसा उपाय ढूंढना होगा जिससे परानुकंपी संस्थान अपना कर्त्तव्य क्षमतापूर्वक निभा सके, बिगड़े संतुलन को बना सके, सामंजस्य को पुनः स्थापित कर सके।

2.4.5 तनाव के कारण

ऊपर की चर्चा से ऐसा निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं होगा कि तनाव एकांततः हानिकारक ही है। कुछ होने के लिए या उपलब्धि के लिए कुछ मात्रा में तनाव आवश्यक भी है किंतु तनाव से जो हानि होती है, कार्य में बाधा आती है, थकावट पैदा होती है, बीमारियां आती हैं उसके मुख्य दो कारण हैं। एक कारण है तनाव की निरंतरता। दूसरा कारण है उसकी अत्यधिक मात्रा इसके होने का एक प्रमुख कारण है– व्यक्ति के जीवन में अचानक घटित होने वाले परिवर्तन। डॉ. होम्स और डॉ. आर. रहो ने जीवनशैली में होने वाले परिवर्तनों को अंक लगाकर मापने का प्रयास किया है। उनका अंकीकरण किया है। जैसे–दंपति में से एक की मृत्यु। उनके द्वारा बनाई गई सूची में दिये गए कुछेक परिवर्तन एवं उनके अंक इस प्रकार हैं–

क्र.सं.	घटना	अंक
1.	दंपत्ति में से किसी एक की मृत्यु	100
2.	तलाक	73
3.	चोट या बीमारी	53
4.	विवाह	50
5.	कार्य से निष्कासन	46
6.	सेवानिवृत्ति	45
7.	लैंगिक समस्याएँ	39
8.	कार्य (व्यवसाय) में परिवर्तन	29
9.	जीवन की स्थितियों में परिवर्तन	25
10.	सोने या आहार संबंधी आदतों में परिवर्तन	16

यह सूची अपने आप में पूर्ण नहीं है और भी अनेक घटनाएँ हैं। इनमें दी गई घटनाएँ और उनके अंक भी सभी पर समान रूप से लागू नहीं होते हैं। फिर भी यदि किसी व्यक्ति पर एक साथ अनेक घटनाओं का दबाव पड़े एवं कुल मिलाकर उनका प्रभाव अंक 300 तक चला जाए तो भयंकर बीमारी की संभावना हो जाती है। यदि उसके अंक 100 के ऊपर भी चले जाएँ तब भी उसके सुरक्षा के उपायों को काम में लेना जरूरी हो जाता है। यह स्पष्ट है कि एक समय में एक ही परिवर्तन या घटना को झेलना सरल होता है किंतु जीवन इतना सरल नहीं है कि एक समय में एक ही घटना का सामना करना पड़े। व्यक्ति को अनेक परिवर्तनों का युगपत् (एक साथ) सामना करना पड़ता है, वैसी स्थिति में तनाव की अत्यधिकता से बचने के लिए कायोत्सर्ग आदि उपचारात्मक या सुरक्षात्मक उपायों का सेवन आवश्यक हो जाता है।

2.4.6 तनाव मुक्ति के उपाय

तनाव जैसी समस्या को दूर करने के लिए अनेक उपाय खोजे हैं जिनमें प्रमुख हैं–

2.4.6.1 प्रशामक दवाएँ

अनेक बार परिस्थितियां नियंत्रण के बाहर होती है। परिस्थितियां अथवा घटनाएं होती चली जाती हैं। व्यक्ति उसके दबाव से ग्रसित होता चला जाता है। वह तनाव से टूटने लगता है। नींद कोसों दूर हो जाती है। क्या ऐसी स्थिति से बचने का भी कोई उपाय है? इस समस्या का समाधान अनेक दिशाओं में खोजा गया। आधुनिक औषध विज्ञान ने इसका समाधान प्रशामक गोलियों में खोजने का प्रयत्न किया है। इनके द्वारा प्रदत्त प्रशामक गोलियां (ट्रेंक्वीलाइजर्स) केवल अस्थायी आराम का आभास कराती हो किन्तु लम्बे काल

में गोलियां स्वयं बीमारी से भी अधिक खतरनाक बन जाती हैं। प्रशामक औषधियां तत्कालीन लाभ अथवा क्षणिक लाभ के लिए तो उपयोगी हो सकती हो लेकिन समस्या का समाधान जड़ से नहीं कर सकती हैं। अतः समस्या के पूर्ण समाधान प्रशामक दवाएं स्थाई उपाचार नहीं हैं।

2.4.6.2 ट्रोपोट्रोपिक प्रतिक्रिया (तनाव मुक्ति प्रतिक्रिया)

डॉ. वाल्टर के अनुसार ''सौभाग्य से हमारे भीतर एक ऐसी सुरक्षात्मक प्रणाली भी है जिसे सक्रिय बनाने पर तनाव मुक्त स्थिति का निर्माण किया जा सकता है। ''लड़ो या भागो'' वाली प्रतिक्रिया का निर्माण मुख्यतः अनुकंपी नाड़ी तंत्र के द्वारा किया जाता है किन्तु सुरक्षात्मक प्रणाली के द्वारा इससे नितांत उल्टी स्थिति का सृजन संभव है। नोबल पुरस्कार विजेता स्विट्जरलैण्ड के सुप्रसिद्ध शरीर वैज्ञानिक डॉ. वालटर ने इस प्रणाली को ''ट्रोपोट्रोफिक प्रतिक्रिया'' की प्रणाली कहा है। उन्होंने बताया कि इस प्रणाली द्वारा अधिक दबाव द्वारा उत्पादित प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया की प्रतिरोधी क्रिया की जा सकती है। डॉ. हर्बर्ट बेन्शन, एम.डी. ने इसे ''तनाव–मुक्ति–प्रक्रिया'' कहा है।

2.4.6.3 स्वयं–सूचन

स्वयं सूचन या स्व–सम्मोहन को हम एक विशेष प्रकार की सुझाव–चिकित्सा कह सकते हो जिसमें व्यक्ति स्वयं अपने सुझावों के द्वारा अपनी चिकित्सा करता है। कुछ शोधकर्त्ताओं ने सिद्ध कर दिया है कि सभी प्रकार की 'सुझाव–चिकित्सा' वास्तव में मूलतः स्वयं–सूचन (या स्व–सम्मोहन) पर ही आधारित है। इसमें व्यक्ति अपनी क्षमता का विकास कर अपने आप गहरी शिथिलावस्था जैसी स्थिति में जा सकता है और उसके माध्यम से वह अपनी थकान, तनाव और सिरदर्द आदि को कम कर सकता है। स्वयं–सूचना के प्रयोगों को आम जनता तक पहुंचाने का कार्य बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में एमिल कोवे (Emile Coue) नामक फ्रेंच डॉक्टर ने किया। उनके द्वारा प्रदत्त नारे–''दिन दूना और रात चौगुना, बनता मेरा स्वास्थ्य सौ गुना'' ने ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त कर लिया।

शिथिलीकरण के प्रयोग के दौरान जो परिवर्तन शरीर में घटित होते हैं, उन्हें मापा जा सकता है। हाल ही में किये गए अध्ययनों से यह पता चला है कि इन प्रयोगों के परिणामस्वरूप निम्नलिखित शारीरिक घटकों में हितकर परिवर्तन होते हैं–

1. रक्त का शर्करा–स्तर,
2. रक्त में श्वेत कणों की संख्या (जो रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति के उत्पादक हैं)
3. विद्युत मस्तिष्कीय लेखांकन (ई.ई.जी.)।

स्वयं–सूचन के प्रयोग की सफलता का आधार है– शरीर की शिथिल या तनावमुक्त और स्थिर–अवस्था। जितनी अधिक शिथिलता और स्थिरता, उतनी अधिक सफलता।

कायोत्सर्ग के प्रयोग का आधार है– स्वयं सूचन। इस प्रयोग में शरीर के प्रत्येक अवयव को स्नेहमय स्वतः सुझावों द्वारा क्रमशः शिथिल और तनाव मुक्त बनाया जाता है। हम अपने आप को इस प्रक्रिया का प्रशिक्षण दे सकते हो और स्वयं–सूचन (Auto-suggestion) की तकनीक द्वारा अपनी आंतरिक सुरक्षात्मक प्रणाली को सक्रिय कर सकते हैं तथा तनाव द्वारा निष्पन्न स्थिति को दूर करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। एड्रीनल के अतिरिक्त स्रावों के उत्पादन में कमी कर सकते हैं और अनुकंपी संस्थान के दुष्प्रभाव को परानुकंपी की सक्रियता द्वारा समाप्त कर सकते हैं। अंततः मांसपेशियां शिथिल और तनावमुक्त बनेंगी और उदरीय कड़ापन समाप्त हो जाएगा। शिथिलीकरण (कायोत्सर्ग) का नियमित अभ्यास वर्तमान युगीन अनेक कष्टदायक बीमारियों से बचने के लिए रामबाण उपाय है।

2.4.6.4 कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग तनाव मुक्ति के लिए बहुत उपयोगी साधन है। तनाव–मुक्ति की यह साधना तनाव को समाप्त करने का एकदम सीधा और निर्दोष तरीका है। तनाव मुक्ति के बिना व्यक्ति न तो शांति प्राप्त कर सकता है, न स्वास्थ्य और न सुख। फिर चाहे व्यक्ति के पास सुखी होने के लिए कितने ही साधन क्यों न

हो? यदि कोई भी व्यक्ति इस साधना को सीख लेता है और प्रतिदिन आधा या पौना घंटा नियमित उसका अभ्यास करता है तो किसी भी परिस्थिति में न केवल तनावमुक्त और अनुद्विग्न रह सकता है अपितु अपनी कार्यक्षमता और गुणवत्ता को बढ़ा सकता है। कायोत्सर्ग की साधना का सही मूल्यांकन करने के लिए हमें मांसपेशियों की कार्य–पद्धति की जानकारी होनी चाहिए। संबंधित स्नायु द्वारा उत्तेजना मिलते ही हमारी मांसपेशियां विद्युत् वेग से संकुचित होती है। हमारी कंकाली मांसपेशियों को हम विद्युत–चुम्बक (electro magnet) के साथ उपमित कर सकते हैं और जो स्नायु (या नाड़ी) उसे उत्तेजित करता है, वह उस विद्युत के तार के समान है जो उसको मस्तिष्क से जोड़ता है।

नींद के दौरान स्नायुओं में सामान्य रूप से विद्युत प्रवाह मंद हो जाता है। केवल कुछ सुरक्षा और जीवन टिकाने वाली क्रियाओं में प्रवृत्त मांसपेशियों को छोड़ शेष सारी मांसपेशियां नींद में शिथिल हो जाती हो। जब कोई व्यक्ति विश्राम की मुद्रा में होता है तब भी स्नायुओं में प्रवाहित होने वाला विद्युत्–प्रवाह बहुत मंद–सा होता है। इससे मांसपेशियों का चुंबकीकरण भी मंद होता है और इसलिए वे शांत–शिथिल पड़ी रहती हैं। जब–जब व्यक्ति किसी भी शारीरिक (मानसिक या वाचिक) क्रिया में प्रवृत्त होता है तब–तब मस्तिष्क के आदेशानुसार नाड़ियों में विद्युत–प्रवाह को तीव्र कर दिया जाता है जो विद्युत–चुम्बकों (मांसपेशियों) को सक्रिय बना देता है जिससे मांसपेशियां संकुचित की जा सकती हैं। कितने सूक्ष्म क्रियात्मक स्नायुओं (मोटर–नर्व्ज) को गति देना है, इसका आधार किए जाने वाले प्रयत्न की तीव्रता पर है।

संकल्पपूर्वक यदि सम्पूर्ण शिथिलीकरण को जागरूकता के साथ–साथ किया जाता है जिसे कायोत्सर्ग कहा जाता है तो हम थकान अथवा क्षति से बच सकते हैं। कायोत्सर्ग के द्वारा मांसपेशी रूप विद्युत–चुम्बकों को विद्युत पहुंचाने वाले तारों (स्नायुओं) का संबंध नींद की अपेक्षा और अधिक क्षमतापूर्वक स्थगित किया जा सकता है। इसके विद्युत के प्रवाह को करीब–करीब शून्य तक पहुंचाकर ऊर्जा के व्यय को न्यूनतम बनाया जा सकता है। अनेक घंटों की अव्यवस्थित निद्रा की अपेक्षा आधा घंटा के सधे हुए कायोत्सर्ग से व्यक्ति के तनाव और थकान को अधिक भली–भांति दूर किया जा सकता है। कायोत्सर्ग की साधना हमारी सचेतन इच्छा–शक्ति के शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव को व्यक्त करने वाली एक साधना है। हमारी यह इच्छा शक्ति किसी आततायी तानाशाह की तरह हाथ में चाबुक लेकर अपनी शक्ति के बल पर दूसरों को चलाने वाली नहीं अपितु उस स्नेहमयी माता की तरह है जो ममता और धैर्य के द्वारा अपने जिद्दी बच्चे को ठीक करती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कायोत्सर्ग कभी भी बल–प्रयोग, तनातनी या हिंसक भावों से नहीं अपितु केवल विनम्र निवेदन–मूलक स्वतः सुझावों से ही सधता है।

बोध–प्रश्न

1. ध्यान का क्या अर्थ है?
2. कायोत्सर्ग के मुख्य प्रयोजन कौन–से हो?
3. मानसिक शांति का सबसे बड़ा उपाय क्या है?
4. दबाव क्या है?
5. तनाव–मुक्ति के लिए उपयोगी साधन क्या हो?

2.5 कायोत्सर्ग का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

यदि हमें अपनी स्थूल चेतना की बात को भीतर में सूक्ष्म तक पहुंचाना है तो कायोत्सर्ग करना आवश्यक है। यदि शरीर की प्रवृत्तियों का और स्नायविक प्रवृत्तियों का शिथिलीकरण नहीं है तो बात भीतर तक नहीं पहुंच सकती। कायोत्सर्ग दोनों ओर से किया जा सकता है– बाहर से भीतर की ओर अथवा भीतर से बाहर की ओर। बाहर से चलेंगे तब सबसे पहले हाथों, पैरों, वाणी और इन्द्रियों का संयम करना होगा। जब हम भीतर से चलेंगे तब उस मुद्रा में बैठना होगा जिससे मन की दिशा और प्राण की धारा बदल जाए–मन और प्राण की सारी ऊर्जा, भीतर की ओर बहने लग जाए। यदि मन भीतर की ओर रम गया, यदि

अस्तित्व और चैतन्य को कोई झलक मिल गई तो शरीर के समस्त अवयव अपने आप शांत हो जाएँगे। प्रयत्न करने की कोई आवश्यक या अपेक्षा न होगी। जब हाथ, पैर और वाणी का संयम–शिथिलीकरण घटित होता है तब इन्द्रियों के तनाव कम हो जाते हैं। उनमें उठने वाली आकांक्षाओं की तरंग कम हो जाती है तब अध्यात्म की यात्रा शुरु होती है। अध्यात्म की यात्रा शुरु करने के लिए सबसे पहली शर्त है– कायोत्सर्ग।

2.5.1 शक्ति सुरक्षा

साधना में कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कायोत्सर्ग करने का उद्देश्य क्या है? इसका एक उद्देश्य है कि शक्ति का जो व्यर्थ ही व्यय हो रहा है, उसे रोका जाए। मांसपेशियों के तनाव में रहने से शरीर के द्वारा जो शक्ति खर्च हो रही है, उसे बचाया जा सके। दूसरे शब्दों में कायोत्यर्ग की सारी प्रक्रिया इसीलिए है कि शक्ति को बचाया जा सके और शक्ति का सही अर्थ में उपयोग किया जा सके। इसका एकमात्र उपाय है– कायोत्सर्ग। हम कायोत्सर्ग करें, शिथिलता का अनुभव करें।

2.5.2 स्वभाव परिवर्तन

अध्यात्म ने मनुष्य को बदलने की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया दी। उस प्रक्रिया के अनेक चरण हैं। इसका पहला चरण है– कायोत्सर्ग। इससे पुरानी आदतों में परिवर्तन आता है, मन का शोधन होता है। कायोत्सर्ग बुरे स्वभावों को बदलने वाला है। जो कायोत्सर्ग की प्रक्रिया को नहीं जानता, वह स्वभाव परिवर्तन नहीं कर सकता। 'सेल्फ–हिप्नोटिज्म' के विशेषज्ञों ने उसके लिए सबसे पहला जो सूत्र दिया है, वह है–'ओटो रिलेक्सेशन'–स्व–शिथिलीकरण। यह कायोत्सर्ग की प्रक्रिया है। चाहे स्वभाव को बदलना हो, चाहे किसी बीमारी की चिकित्सा करनी हो तो सबसे पहले कायोत्सर्ग करना होगा।

2.5.3 चित्त शुद्धि

मानसिक शांति का सबसे बड़ा उपाय है– चित्त–समाधि। चित्त–समाधि के लिए आवश्यक है– चित्त की शुद्धि। चित्त की शुद्धि का सबसे बड़ा सूत्र है– शरीर की स्थिरता। शरीर जितना स्थिर होता है, उतना ही चित्त शुद्ध होता है। चित्त की अशुद्धि का सबसे बड़ा कारण है–चित्त की चंचलता। शरीर की स्थिरता हुए बिना चित्त की स्थिरता नहीं होती। शरीर की स्थिरता हुए बिना श्वास शांत नहीं होता, मौन नहीं होता, मन शांत नहीं होता, स्मृतियां शांत नहीं होती, कल्पनाएँ समाप्त नहीं होती, विचार का चक्र रुकता नहीं। इसलिए सबसे पहले आवश्यक है– कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग होता है तो अनायास सारी बातें हो जाती हैं।

2.5.4 समस्या का समाधान

जब कोई समस्या सामने आती है, आप सोचते हैं कि समस्या का समाधान कैसे मिले? एकांत में जाकर बैठते, शांत होकर बैठते, समस्या का समाधान मिल जाता है। जीवन की यात्रा चलाने वाला, व्यवहार की भूमिका पर जीने वाला हर व्यक्ति समय–समय पर कायोत्सर्ग करता है। अध्यात्म की यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिए तो इसके सिवाय और कोई विकल्प ही नहीं है। जो कायोत्सर्ग की सम्यक् आराधना नहीं करता, कायोत्सर्ग को ठीक से नहीं साधता, वह अध्यात्म के क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं कर सकता।

2.6 कायोत्सर्ग की निष्पत्तियाँ

अब हम शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि दृष्टियों से होने वाली निष्पत्तियों (परिणामों) की चर्चा करेंगे जिनमें तनाव मुक्ति, चित्त की एकाग्रता, ज्ञाता–द्रष्टा–भाव का विकास, चैतन्य का साक्षात्कार, प्रज्ञा का जागरण आदि उल्लेखनीय हैं।

चार अवस्थाएँ–कायोत्सर्ग की प्रथम अवस्था में स्थिरता प्राप्त होती है। शारीरिक स्तर पर तनाव–मुक्ति का अनुभव होने लगता है तथा कुछ मनःकायिक रोगों में प्रत्यक्ष सुधार का अनुभव भी होने लगता है।

कायोत्सर्ग की दूसरी अवस्था में कुछ विशिष्ट परिवर्तन घटित होते हैं–

1. स्नायु–तंत्र प्रभावित होता है।

2. मस्तिष्क की तरंगों और मस्तिष्कीय विद्युत में परिवर्तन आ जाता है।

3. ऑक्सीजन की खपत कम हो जाती है।

4. अनैच्छिक मांसपेशियों पर नियंत्रण स्थापित होने लगता है और स्वायत्त स्नायुतंत्र का उत्तेजना–स्तर गिर जाता है। उनमें स्थिरता आती है।

5. शारीरिक कार्यक्षमता बढ़ जाती है।

6. श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है।

7. जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है।

8. सर्दी–गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहने की क्षमता बढ़ती है।

9. चित्त की एकाग्रता सुलभ हो जाती है।

इसकी तीसरी अवस्था में स्थूल शरीर का बोध क्षीण हो जाता है। सूक्ष्म शरीर की सक्रियता बढ़ जाती है और वह कभी–कभी स्थूल शरीर को छोड़कर बाहर चला जाता है। इस स्थिति में सूक्ष्म पदार्थ दृष्टिगत होने लग जाते हैं।

इसकी चतुर्थ अवस्था में आत्मा के चैतन्यमय स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है।

2.6.1 तनाव–मुक्ति

कायोत्सर्ग की पहली और प्रत्यक्ष निष्पत्ति है– तनाव–मुक्ति। जो भी साधक यह साधना करेगा, उसमें तनाव धीरे–धीरे विसर्जित हो जाएँगे। कोई कायोत्सर्ग करे और तनाव न मिटे, यह कभी हो नहीं सकता। कायोत्सर्ग तनाव–मुक्ति का अचूक उपाय है। जिन्होंने कायोत्सर्ग का अभ्यास किया है, शरीर में शिथिलीकरण का प्रयत्न किया है, ममत्व के विसर्जन का अभ्यास किया है तो उन्होंने यह अनुभव किया है कि शरीर सर्वथा तनाव–मुक्त हो गया है। कायोत्सर्ग करने वाला मन के बोझ से ऊपर उठ जाता है। यह कायोत्सर्ग का प्रत्यक्ष लाभ है।

2.6.2 चंचलता की निवृत्ति

शिथिलीकरण का अर्थ है– चंचलता की निवृत्ति। शरीर पूरा स्थिर हो जाए, कोई भी अंग न हिले, शरीर की सारी प्रवृत्तियों का विसर्जन करना ही शिथिलीकरण है। कायोत्सर्ग में पहले हम इच्छाचालित नाड़ी–संस्थान को स्थिर करते हो, जैसे–जैसे अभ्यास बढ़ता है, स्थिरता फलित होती जाती है। जब इच्छा चालित नाड़ी संस्थान पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है, तब स्वतः चालित नाड़ी–संस्थान भी अपने आप स्थिर होने लग जाता है, हृदय की धड़कन भी कम होने लग जाती है, श्वास मंद हो जाता है, उसकी संख्या घट जाती है, प्राणवायु या ऑक्सीजन की खपत कम हो जाती है, सारी अपेक्षाएँ कम हो जाती हैं और अकल्पित शांति का वातावरण भीतर में निर्मित हो जाता है।

2.6.3 शरीर पर प्रभाव

शरीर पर कायोत्सर्ग के प्रभाव की चर्चा करें तो कहा जा सकता है कि कायोत्सर्ग के द्वारा लगभग सभी नाड़ी–तंत्रीय कोशिकाएँ प्राण–शक्ति से अनुप्राणित हो जाती हैं। इस प्रकार से उन्हें ऐसा अवकाश प्राप्त होता है जिसके दौरान वे निरंतर उन पर पड़ने वाले बोझ से मुक्त रहती हैं। रात–दिन मस्तिष्क तक संवेदनों को पहुंचाने तथा प्रवृत्ति–बहुल गतिविधियों को चलाने से थका देने वाले कार्य से विश्रान्ति का अनुभव कर सकती है। इसलिए यह आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि दीर्घकालीन अशांत निंद्रा की अपेक्षा स्वल्पकालीन कायोत्सर्ग व्यक्ति को अधिक स्फूर्ति और शक्ति प्रदान करता है।

ऊपर जो बताया गया है उससे तो स्पष्ट हो चुका होगा कि कायोत्सर्ग का प्रयोग करते समय नींद लेना प्रयोग के लक्ष्य के विपरीत है पर नींद में जाने से पूर्व कायोत्सर्ग का प्रयोग करने का परिणाम होगा–

स्वास्थ्य और शांतिपूर्ण नींद। जिन व्यक्तियों को उच्च रक्तचाप आदि के कारण हृदय रोग होने की संभावना रहती है वे कायोत्सर्ग को नियमित अभ्यास से अपनी प्रतिकार शक्ति को बढ़ाकर इस खतरे से बच सकते हैं। एक इलेक्ट्रोनिक–सामग्री–निर्माण करने वाले कारखाने में 100 श्रमिकों पर एक प्रयोग किया गया। इन श्रमिकों को उच्च रक्तचाप, रक्त में कोलेस्ट्रोल की अत्यधिक मात्रा तथा धूम्रपान आदि व्यसन के कारण हृदय रोग का खतरा हो गया था। उन्हें आठ सप्ताह तक प्रति सप्ताह एक घंटे तक शिथिलीकरण का अभ्यास करवाया गया। उनके रक्तचाप में उल्लेखनीय कमी पाई गई। इसी कारखाने के अन्य श्रमिकों का दल जिसे उपर्युक्त अभ्यास से वंचित रखा गया था (जिसे 'कण्ट्रोल ग्रुप' कहा जाता है), सदस्यों की तुलना में प्रयोग के अंतर्गत अभ्यास करने वाले दल के सदस्यों में तीन वर्ष पश्चात् भी रक्तचाप नीचा रहा तथा उनमें हृदय–रोग की घटनाएँ भी कम हुई।

2.6.4 सूक्ष्म शरीर की घटनाओं का ज्ञान

अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति को अध्यात्म के नियमों से परिचित होना आवश्यक है। सबसे पहला और सबसे बड़ा नियम है– शरीर की स्थिरता, कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग होता है, श्वास–दर्शन होता है। कायोत्सर्ग होता है, शरीर प्रेक्षा अपने आप हो जाती है। शरीर में होने वाले कम्पन अपने आप प्रकट होने लगते हैं। कायोत्सर्ग होता है, विचार–दर्शन होता है। शरीर में हर अवयव की स्थिरता जब सधती है तब प्रत्येक कोशिका की स्थिरता का अभ्यास हो जाता है तो फिर किस कोशिका में कहां क्या हो रहा है– इस घटना का पता लगने लग जाता है। नाड़ी–संस्थान में ग्रंथि–संस्थान में जो कुछ हो रहा है, विद्युत–प्रवाह की जो गति हो रही है, रसायन किस प्रकार अपने विविध परिणमन कर रहे हैं और किस प्रकार के रसायन बन रहे हो– उन सब घटनाओं का कायोत्सर्ग में पता लग जाता है। कायोत्सर्ग जैसे–जैसे विकसित होता है, जैसे–जैसे शरीर की स्थिरता सधती है, वैसे–वैसे जागरूकता बढ़ती जाती है। चेतना निर्मल हो जाती है और इस स्थूल शरीर का अतिक्रमण कर सूक्ष्म शरीर की घटनाओं का भी पता लगने लग जाता है।

2.6.5 आभामण्डल का दर्शन

कायोत्सर्ग की प्रगाढ़ अवस्था में आभामंडल का दर्शन भी होने लगता है। जब कायोत्सर्ग सघन होता है तब परमाणुओं का भीतर आना बंद हो जाता है। उस स्थिति में स्थूल शरीर को पार करने के पश्चात् अतिसूक्ष्म शरीर के स्पंदन दिखने लग जाते हैं। उसका साक्षात्कार होते ही हमारी सारी दृष्टि बदल जाती है।

2.6.6 ज्ञाता–द्रष्टा भाव का जागरण

जब कायोत्सर्ग घटित होगा, तब शरीर की सारी चंचलता समाप्त हो जाएगी। इतना ही नहीं अपितु साधक 'सुसमाहितात्मा' बन जाएगा। आत्मा का वह स्वरूप प्रकट होगा जो पहले कभी नहीं हुआ था। इस स्वरूप को आज तक या तो प्रतिकार करते रहे थे या केवल मानते रहे थे किन्तु अब जानने लग जाएँगे। जानने की बात तब आती है जब कायोत्सर्ग की स्थिति प्राप्त होती है। कायोत्सर्ग आत्मा तक पहुंचने का द्वार है। इसकी निष्पत्ति है– अध्यात्म की उपलब्धि, अपने अस्तित्व की उपलब्धि, ज्ञाता–द्रष्टा भाव की उपलब्धि।

2.6.7 विवेक चेतना का जागरण

जब कायोत्सर्ग सधता है तब विवेक–चेतना जाग जाती है, चेतना और शरीर की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। जैसे यह शरीर है और यह आत्मा। यह अचेतन है और यह चेतन। यह अशाश्वत और यह शाश्वत। आत्मा और पुद्‌गल का स्पष्ट भेद उसे साक्षात् हो जाता है। यह विवेक–चेतना बहुत बड़ी उपलब्धि है। वास्तव में शरीर का मूल्यांकन वही व्यक्ति कर सकता है जिसने कायोत्सर्ग का अभ्यास किया है। वास्तव में शरीर का सार वही निकाल सकता है जिसने कायोत्सर्ग को साधा है।

कायोत्सर्ग की अनुभूति के पीछे शरीर–विज्ञान की दृष्टि से कौन–सी क्रिया कार्य करती है? जैसे हम पहले बता चुके हैं कि जिस समय मांसपेशियों को शिथिल किया जा रहा था उस समय उनसे सम्बद्ध क्रियावाही नाड़ियों में धीरे–धीरे विद्युत का प्रवाह मंद होता जा रहा था तथा इस प्रकार उन्हें विश्राम का अवसर दिया जा रहा था। अंततोगत्वा सम्पूर्ण क्रियावाही प्रणाली को निष्क्रिय बनाकर उसे विश्राम की

अवस्था में स्थापित किया गया और फिर उसी का अनुकरण उसकी ही पूरक प्रणाली–संवेदी (ज्ञानवाही) प्रणाली द्वारा किया गया है जो मस्तिष्क (यानि केन्द्रीय नाड़ी–संस्थान) तक संवेदनों को पहुंचाने का कार्य करती है। इस प्रकार सारी प्रक्रिया के दौरान जहां एक ओर चेतन मन पूर्णतः जागृत और सजग था, वहां दूसरी ओर शरीर–हमारा भौतिक हिस्सा–धीरे– धीरे चेतना रहित–सा होता जा रहा था। इससे चैतन्य को उसके प्रतिपक्षी भौतिक हिस्से से मुक्त अनुभव करने का अवसर मिला। इस प्रकार के कायोत्सर्ग में स्वयं के शरीर से बाहर अपने आप को तैरते हुए अनुभव किया जा सकता है जो निश्चित रूप से न तो स्वतः सूचना का रूप है और न ही सम्मोहन है अपितु एक वास्तविक तथ्य की सही–सही अनुभूति है।

2.6.8 व्युत्सर्ग–चेतना का जागरण

विवेक चेतना पुष्ट होती है तब व्युत्सर्ग (त्याग की क्षमता) का विकास होता है। फिर छोड़ने में संकोच नहीं होता। चाहे शरीर को छोड़ना पड़े, इन्द्रिय–विषयों को छोड़ना पड़े, परिवार या धन को छोड़ना पड़े। उमसें छोड़ने की इतनी क्षमता बढ़ जाती है कि जब चाहे तब किसी को भी छोड़ सकता है, कोई मोह नहीं रहता। व्युत्सर्ग की चेतना जगाने पर साधक को स्पष्ट अनुभव हो जाता है कि मो चैतन्यमय हूँ, यही मेरा अस्तित्व है। चैतन्य के अतिरिक्त जितना भी जुड़ाव हुआ है, वह विजातीय है, मेरा नहीं।

2.6.9 प्रज्ञा का जागरण : समता का विकास

कायोत्सर्ग की एक और महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति है– प्रज्ञा का जागरण। जब कायोत्सर्ग के द्वारा प्रज्ञा जागती है तब जीवन में समता स्वतः अवतरित होती है। लाभ–अलाभ, सुख–दुःख, निंदा–प्रशंसा, जीवन–मरण–इन द्वंद्वों में सम रहने की क्षमता उसी व्यक्ति में विकसित होती है जो कायोत्सर्ग को साध लेता है। फिर उसके लिए प्रिय और अप्रिय में कोई भेद नहीं होता। दोनों आयाम समाप्त हो जाते हैं। तीसरा आयाम उद्घाटित होता है। वह आयाम है–समता।

बुद्धि और प्रज्ञा में इतना ही अंतर होता है कि बुद्धि चुनाव करती है–यह प्रिय है, यह अप्रिय है। प्रज्ञा में चुनाव समाप्त हो जाता है। उसके सामने प्रियता और अप्रियता का प्रश्न ही नहीं उठता। उसके समक्ष समता ही प्रतिष्ठित होती है। कायोत्सर्ग के अभ्यास से बुद्धि का पलड़ा हलका होता जाएगा और प्रज्ञा का पलड़ा भारी होता चला जाएगा। जीवन में जिस दिन प्रज्ञा की किरण फूटेगी, उस दिन अपने आप समता का दर्शन होगा।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कायोत्सर्ग का प्रयोग तनाव मुक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इस प्रयोग के द्वारा शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक स्तर की अनेक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. कायोत्सर्ग क्या है?
2. कायोत्सर्ग के मुख्य प्रयोजन कितने हैं?
3. तनाव विसर्जन की प्रक्रिया क्या है?
4. परानुकंपी किस संस्थान के कार्य को संतुलित करता है?
5. सुझाव चिकित्सा किस पर आधारित है?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. कायोसर्ग के प्रयोजन को स्पष्ट कीजिए।
2. कायोत्सर्ग की निष्पत्तियां लिखिए।

3. निबंधात्मक प्रश्न–

1. कायोत्सर्ग का वैज्ञानिक आधार स्पष्ट कीजिए।

अन्तर्यात्रा

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 भूमिका

2.2 प्रयोजन

2.2.1 शक्ति का ऊर्ध्वारोहण

2.2.2 शक्ति का संतुलन

2.2.3 अंतर्मुखता का विकास

2.3 अंतर्यात्रा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

2.3.1 केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र

2.3.2 स्वचालित तंत्रिका–तंत्र (Autonomic Nervous System)

2.3.3 मस्तिष्क मेरु–तरल (Cerebrospinal Fluid)

2.4 अतंर्यात्रा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

2.4.1 इड़ा पिंगला का संतुलन

2.4.2 सुषुम्ना का जागरण

2.5 अंतर्यात्रा की उपलब्धियाँ

2.5.1 शारीरिक स्वास्थ्य की उपलब्धि

2.5.2 मानसिक स्वास्थ्य की उपलब्धि

2.5.3 भावनात्मक स्वास्थ्य की उपलब्धि

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है–

1. अन्तर्यात्रा के प्रयोजन को समझा जा सकेगा।
2. अन्तर्यात्रा के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण को समझा जा सकेगा।
3. अन्तर्यात्रा की निष्पत्तियों को समझा जा सकेगा।

2.1 भूमिका

व्यक्ति साधना के क्षेत्र में उतरता है क्योंकि इस नश्वर जीवन की यथार्थता को जानकर वह प्रतिपल शांति की खोज में, टोह में घूमता रहता है। जब कहीं भी शांति का मार्ग या माध्यम नहीं मिलता है तो व्यक्ति का रुझान होता है आत्म–तत्त्व की ओर जिसे जानने के लिए उसे धर्म का, अध्यात्म का आश्रय लेना पड़ता है। जब हम किसी घर में प्रवेश करते हो तो दरवाजे को पार करना होता है, दरवाजा उस घर का प्रवेश द्वार है। वैसे ही अध्यात्म रूपी घर में प्रवेश करने का द्वार है– अंतर्यात्रा। अंतर्यात्रा से व्यक्ति आत्मा की निकटता का अनुभव करता है। यों तो अध्यात्म के सभी प्रयोग अंतर्यात्रा के ही प्रयोग हैं लेकिन प्रेक्षाध्यान में अंतर्यात्रा एक विशेष प्रयोग का नाम है। इस प्रयोग में चित्त की यात्रा सुषुम्ना पथ में की जाती है। यह पूरा पथ शक्ति केन्द्र से ज्ञान केन्द्र तक का पथ है। योगशास्त्र के दृष्टि से यह पथ अनेक चक्रों का

स्थान है तो शरीर विज्ञान की दृष्टि से अनेक ग्रंथियों का। अतः इस पथ की महत्ता स्वतः स्पष्ट होती है। इस पथ पर ध्यान केन्द्रित करने से अनेक प्रकार के अनुभवों को साधक प्राप्त कर सकता है। इसके लिए आवश्यकता है गहन साधना तथा सावधानियों की क्योंकि बिना गहन साधना के अनुभव की सच्चाई तक नहीं उतरा जा सकता है और बिना सावधानी के अनेक समस्याओं की संभावना बनी रहती है। अतः अंतर्यात्रा का प्रयोग सावधानी के साथ किया जाए तो व्यक्ति अपने जीवन में अनेक रहस्यों का उद्घाटन कर सकता है।

2.2 प्रयोजन

अंतर्यात्रा के प्रयोजन को निम्न बिन्दुओं के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

2.2.1 शक्ति का ऊर्ध्वारोहण

शक्ति का ऊर्ध्वारोहण अतंर्यात्रा का प्रमुख प्रयोजन है। ऐसा माना जाता है कि शक्ति का भंडार शक्ति केन्द्र के पास होता है। यह शक्ति सुप्त अवस्था में रहती है। अतः इस शक्ति का कोई उपयोग नहीं होता है। उसी शक्ति का उपयोग होता है जो ज्ञानकेन्द्र में पास होती है। ज्ञान केन्द्र पर शक्ति का भंडार हैं। इसके लिए प्रयोग आवश्यक है। वह प्रयोग है अंतर्यात्रा। अंतर्यात्रा के द्वारा शक्ति केन्द्र से ज्ञान केन्द्र तक की यात्रा करने से शक्ति का ऊर्ध्वारोहण होने लगता है। शक्ति के इस ऊर्ध्वारोहण से चित्त विशुद्धि, विशिष्ट ज्ञान और क्षमताओं का जागरण होता है।

2.2.2 शक्ति का संतुलन

योगशास्त्र में प्राण की प्रमुख तीन धाराएं मानती जाती हैं। वे धाराएं हैं–इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना। जब इड़ा की धारा अधिक सक्रिय होती है तो व्यक्ति के व्यवहार में निष्क्रियता, दब्बूपन एवं उदासीनता आदि लक्षण दिखने लगते हैं। इसके विपरीत पिंगला के अति सक्रिय होने से व्यक्ति के व्यवहार में आक्रामकता, उत्तेजना व उद्‌डता आदि जैसे लक्षण दिखने लगते हैं। संतुलन के आवश्यक है इन दोनों नाड़ियों का संतुलन। अंतर्यात्रा के द्वारा इन दोनों नाड़ियों में संतुलन स्थापित कर व्यवहार को संतुलित बनाया जा सकता है। व्यवहार संतुलित होने पर स्वतः ही शक्ति का संतुलन भी होने लगेगा।

2.2.3 अंतर्मुखता का विकास

अंतर्मुखता का अर्थ है अपने भीतर की ओर उन्मुख होना। अंतर्मुखता तब होती है जब शक्ति ज्ञानकेन्द्र पर हो। इसके विपरीत जब शक्ति शक्ति केन्द्र यानि कि नीचे के केन्द्र में रहती है तब व्यक्ति बहिर्मुख होने लगता है। अर्थात् वह बाह्य जगत् की ओर भटकने लगता है। बाह्य जगत् में अनेक आकर्षण उसके सम्मुख होते हैं, जिसमें वह इंद्रिय सुख को खोजता रहता है। इस खोज में इंद्रियातीत चेतना अथवा शक्तियों से व्यक्ति अपरिचित तथा अनभिज्ञ बना रहता है। अतः अंतर्यात्रा का प्रयोग अतंर्मुखी बनाता है जिससे व्यक्ति अपनी शक्तियों से परिचित होने लगता है। शक्ति का खजाना भीतर में है बाहर नहीं। इस खजाने को प्राप्त कर व्यक्ति बाह्य जगत् अथवा भौतिक जगत् के जीवन को भी संतुलित ढंग से जी सकता है।

2.3 अंतर्यात्रा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

अंर्तयात्रा के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जानने के लिए नाड़ीतंत्र को जानना आवश्यक होगा। नाड़ीतंत्र शरीर का एक एक अति महत्त्वपूर्ण भाग है। इसे समझने से व्यक्ति संतुलित जीवन जी सकता है। नाड़ीतंत्र को तंत्रिका तंत्र भी कहते हैं।

तंत्रिका तंत्र का एक महत्त्वपूर्ण भाग है केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र तथा दूसरा भाग है स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र। केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के दो भाग है–मस्तिष्क और सुषुम्ना तथा स्वायत्तशाषी के भी दो भाग

हो–अनुकंपी तथा परानुकंपी। अतः इस तंत्र को समझने के बाद अतंर्यात्रा के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को आसानी से समझा जा सकता है।

2.3.1 केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र

केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में मस्तिष्क और शुषुम्ना दो भाग हैं जिनका विवरण निम्न प्रकार है–

2.3.1.1 मस्तिष्क

केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र का प्रमुख भाग मस्तिष्क है। यह शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। मस्तिष्क ही बुद्धि, इच्छा, संवेगों तथा संवेदनाओं का केन्द्र है। किसी कार्य को सीखने, समझने तथा उस पर विचार करने का कार्य मस्तिष्क का ही है। शरीर रूपी जीवित यंत्र का संचालन इसी के द्वारा होता है। इसलिए प्रकृति ने इसका स्थान शरीर में ऊपर की ओर रखा है और उसे दृढ़ कपाल करोटि या खोपड़ी जैसे संदूक में बंद रखा है ताकि वह सुरक्षित रहे और अपना कार्य नियमित रूप से कर सके। मस्तिष्क से शरीर के विभिन्न भागों से सदैव सूचनाएँ पहुंचती रहती हैं और मस्तिष्क प्रत्येक भाग को सूचनाओं के अनुसार आज्ञाएँ भेजता रहता है। यह कपाल–गुहा में स्थित रहता है तथा सुषुम्ना का ही सिलसिला है। इसका आकार बड़ा तथा इसकी रूपरेखा अनियमित है। सामान्य रूप से इसकी भीतरी बनावट बाह्य श्वेत द्रव्य से घिरे आंतरिक धूसर द्रव्य ही है। मस्तिष्क में धूसर द्रव्य बाहर और श्वेत द्रव्य भीतर रहता है परन्तु इसके विपरीत सुषुम्ना में धूसर द्रव्य भीतर तथा श्वेत द्रव्य बाहर रहता है। मस्तिष्क तथा सुषुम्ना का धूसर द्रव्य तंत्रिका कोशिकाओं का बना हुआ रहता है और श्वेत द्रव्य कोशिकाओं से निकलने वाले तंतुओं का रहता है। मस्तिष्क और सुषुम्ना दोनों की सुरक्षा के लिए अस्थियों के नीचे मस्तिष्कावरण या तानिकाएँ (Meningè) हो जिसमें रेशेदार तंतुओं या झिल्लियों के तीन आवरण हैं। ये इन्हें आघात से बचाते हैं। ये झिल्लियां सुषुम्ना को ढकने वाली झिल्लियों तक आगे बढ़ी हुई होती हैं।

मस्तिष्क के भाग–मस्तिष्क के आवरणों को हटाने के बाद यह ज्ञात होता है कि यह धूसर रंग के पीले–पीले पदार्थ से बना हुआ है क्योंकि मुख्यतया यह तंत्रिका कोशिकाओं का बना होता है और जिस पर अनेक खाइयां तथा उभार दृष्टिगोचर होते हैं। भीतर का भाग या पदार्थ तंत्रिका तंतुओं के कारण सफेद दिखता है जो तंत्रिका कोशिकाओं से शुरु होकर अंदर की ओर बढ़ जाते हैं। इन खाइयों को 'परिखा' या 'फीसर' (Sulcii or fissure) कहते हैं और उभारों को मेंड़ (Ridgè) कहते हैं। आकार स्थिति तथा कार्यों के आधार पर मस्तिष्क को अग्रलिखित भागों में बांटा जा सकता है।

(क) अग्रमस्तिष्क

अग्रमस्तिष्क के निम्नांकित भाग हैं–

1. चेतक–लघुमस्तिष्क के सामने तथा वृहत् मस्तिष्क के नीचे के भाग को चेतक कहते हैं। स्नायु–प्रवाहों को अपने नियत स्थानों में पहुंचाने का कार्य चेतक ही करता है। साधारण प्रकार की सीखने की क्रिया चेतक भाग द्वारा ही होती है।

2. अधश्चेतक–अधश्चेतक भाग को पुनः दो भागों में विभक्त किया जाता है–

(क) पश्च तथा पार्श्व भाग (Posterior and Lateral Portion), और

(ख) अग्र तथा केन्द्रीय भाग (Anterior and Central Portion)।

पश्च तथा पार्श्वभाग अनुकम्पी मंडल के कार्यों को संपन्न करने में पूर्ण सहयोग देते हैं। अग्र तथा केन्द्रीय भाग परानुकंपी मंडल के कार्यों को संपन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त यह तंत्रिका तंतुओं को सुषुम्नाशीर्ष (Medulla Oblongat) की ओर भेज कर श्वसन–कार्य में सहायता करता है, शरीर के ताप को नियमित तथा नियंत्रित करता है, वसा, कार्बोहाइड्रेट तथा जल की पाचन–क्रिया की नियमित रखता है। यह संवेगात्मक व्यवहारों के संचालन का प्रमुख केन्द्र है तथा पीयूष ग्रंथि से भी संबंधित है। यह पीयूष ग्रंथि की सहायता से हमारे शरीर के भीतर की सभी अंतःस्रावी ग्रंथियों के कार्य में सहायता करता है।

3. घ्राणकंद—यह नाक के ठीक ऊपर स्थित है। प्राणी–विकास के फलस्वरूप इसका स्थान बृहत् मस्तिष्क ने ले लिया है। अधिक विकसित प्राणी में इसका अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है।

4. वैसल गोगलिया—इसके दो प्रमुख भाग हैं–(क) धारीदार भाग तथा (ख) धारीविहीन भाग। धारी वाले भाग को 'रेखी काय' (Corpus Striatum) कहते हैं। यह भाग शरीरिक मुद्राओं या स्थितियों को नियंत्रित करता और मनुष्य के व्यवहारों का सम्यक् संतुलन रखता है।

5. प्रमस्तिष्क गोलार्द्ध—यह केन्द्रीय तंत्रिका का प्रमुख भाग है। प्रमस्तिष्क के ऊपर का भाग गुम्बज की तरह और नीचे का भाग समतल होता है। कपाल–गुहा का अधिक भाग प्रमस्तिष्क से भरा रहता है। प्रमस्तिष्क वृद्धि या मेधा, इच्छा, आवेश, स्मरणशक्ति जैसे उन अधिक विकसित क्षमताओं का स्थल है जो मानव को विशिष्ट रूप से संपन्न किये हुए है। प्रमस्तिष्क द्वारा सांवदनिक, क्रियाओं, गतिवाही क्रियाओं और साहचर्य क्रियाओं का संचालन भी होता है।

(ख) मध्य मस्तिष्क

1. ऊपरी सतह पटल (Tectum) : ऊपरी सतह को दो जोड़े संवेदी केन्द्रों (Sensory Centres) में विभक्त किया गया है। एक को 'सुपीरियर कोलीकुली' (Superior Colliculi) और दूसरे को 'इनफीरियर कोलीकुली' (Inferior Colliculi) कहते हैं। सुपीरियर कोलीकुली द्वारा किसी चीज को देखने की क्रिया सम्पन्न होती है। यों देखने की क्रिया पश्च कपाल–खंड द्वारा सम्पन्न होती है। परन्तु इसके अभाव में देखने की क्रिया इनफीरियर कोलीकुली द्वारा ही संचालित एवं नियंत्रित होती है। इनफीरियर कोलीकुली पर सुनने की क्रिया आश्रित है।

2. तल (Floor) : निचली सतह को 'तल' कहते हैं। इसी द्वारा ज्ञानवाही तंत्रिका–प्रवाह मस्तिष्क के ऊँचे–केन्द्रों की ओर जाता है। प्रेरक तंत्रिका–प्रवाह इसी रास्ते से मस्तिष्क के निचले केन्द्रों में पहुंच पाता है।

(ग) पश्च मस्तिष्क

(क) सेतु (Pons)—यह अनुमस्तिष्क के सामने का भाग है। सेतु के पिछले भाग में अनुमस्तिष्क तंत्रिका तंतुओं द्वारा जुड़ा होता है। सेतु का प्रमुख कार्य है लघु मस्तिष्क तथा बृहद् मस्तिष्क के भागों को मिलाना साथ ही इन्हें मस्तिष्क के अन्य भागों से भी मिलाना।

(घ) सुषुम्ना शीर्ष—सुषुम्ना के ऊपरी भाग को सुषुम्ना शीर्ष कहते हैं। यह तंत्रिका मस्तिष्क की प्रमुख तंत्रिकाओं से संबंध स्थापित करता है और प्राण रक्षा संबंधी सभी क्रियाओं का संचालन एवं नियंत्रण करता है। सुषुम्ना शीर्ष का नियंत्रण श्वसन एवं हृदय द्वारा होता है। यह रक्त परिसंचरण और जैसे–जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों का नियमन करता है।

(ग) अनुमस्तिष्क—यह प्रमस्तिष्क से छोटा होता है। अनुमस्तिष्क का भार मस्तिष्क के कुल भार का दसवां भाग होता है। एक ओर अनेक तंत्रिका–तंतुओं द्वारा इसका संबंध सुषुम्ना–शीर्ष से तथा दूसरी ओर सेतु द्वारा इसका संबंध मस्तिष्क से रहता है। अनुमस्तिष्क द्वारा पेशियों की चेष्टाओं का नियमन एवं नियंत्रण होता है। इसकी क्रिया के फलस्वरूप शरीर अपनी सामान्य स्थिति में रहता है। यह हमारी गति को असंतुलित नहीं होने देता। इसके द्वारा गति उत्पन्न करने वाली पेशियां नियंत्रित होती हो। चलने या दौड़ने पर यह शरीर के भिन्न–भिन्न अंगों, पेशियों, संधियों आदि की क्रियाओं में इस प्रकार का सामंजस्य स्थापित करता है, ताकि सभी क्रियाएँ एक–दूसरे के अनुकूल तथा उचित समय पर होती रहें और हमारी गति में बाधा नहीं पड़े। इस प्रकार शरीर को संतुलित रखने का दायित्व अनुमस्तिष्क पर रहता है। अनुमस्तिष्क के अभाव में या इसको क्षतिग्रस्त करने पर ऐसा देखा गया है कि प्राणी प्रायः अपना शारीरिक संतुलन खो बैठता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियां तथा पाचन–शक्ति आदि पूर्ववत् काम करती हो किन्तु चाल में बड़ा अंतर आ जाता है। चलते समय उसके पैर लड़खड़ाने लगते हो और वह ठीक एक दिशा में नहीं चल सकता। वह उचित रूप से ठीक खड़ा भी नहीं हो सकता। उसकी पेशियों की क्रियाओं के वेग भी उसके अधीन नहीं

रहते। हाथों का कांपना तथा नेत्रों को बराबर घुमाते रहना इस दशा के ही लक्षण हैं। अनुमस्तिष्क कुशल एवं बहिक्रियात्मक क्रियाओं को व्यवस्थापूर्वक क्रम में रखता है तथा शरीर की भी अभीष्ट गति को सुचारु रखता है।

मस्तिष्क जो अनेक क्रियाओं को संपादित करता है उसका स्वस्थ एवं सुचारु रहना भी आवश्यक है। अतः अंतर्यात्रा के द्वारा मस्तिष्कीय क्रियाओं पर भी इसका प्रभाव होता है। चेतक, अधःचेतक, पीनियल तथा पियूष ग्रंथियां जो मस्तिष्क में ही स्थित है, वे भी इस प्रयोग से प्रभावित होती हैं। लिम्बिक सिस्टम जो भाव का संस्थान माना जाता है, वह भी मस्तिष्क में ही स्थित है। अंतर्यात्रा का प्रयोग के द्वारा भाव संस्थान भी प्रभावित होता है। इस प्रकार मस्तिष्क के इन महत्त्वपूर्ण भागों को अंतर्यात्रा के प्रयोग से प्रभावित कर इनकी क्रियाशीलता को संतुलित किया जा सकता है साथ ही मस्तिष्कीय कार्य क्षमता को बढ़ाया जा सकता है।

अब हम स्वचालित तंत्रिका तंत्र एवं सेरिब्रेस्पाइनल फ्लुड (CSF) के बारे में भी थोड़ी जानकारी करेंगे।

2.3.2 स्वचालित तंत्रिका–तंत्र (Autonomic Nervous System)

शरीर के भीतर कुछ ऐसी भी तंत्रिकाएँ हैं जिनकी क्रियाओं का संबंध मस्तिष्क से नहीं रहता परन्तु ऐसी तंत्रिकाएँ केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र से ही उत्पन्न होती हैं। क्रियाओं की भिन्नता के कारण वह एक अलग भाग बन जाता है। इस भाग की तंत्रिकाएँ हमारे मस्तिष्क को न तो सूचना ही भेजती है और न तो मस्तिष्क से कोई सूचना ग्रहण करती है। इनकी क्रिया स्वतः होती है। फुफ्फुस, हृदय की धड़कन, आमाशय की पेशियों में संकुचन तथा प्रसारण, वृक्क, मूत्राशय, गर्भाशय आदि की क्रियाएँ हमारी इच्छाओं द्वारा नहीं होतीं। वे स्वतः कार्यरत रहती हैं। इन्हें नियंत्रित करने वाली तंत्रिकाओं का मस्तिष्क के केन्द्रों से कोई संसर्ग नहीं रहता। आंतरिक अंगों को नियंत्रित करने वाली तंत्रिकाओं का स्वतन्त्र समूह होता है जिसे एक पृथक् मंडल के रूप में रखा गया है। इस तन्त्र में भी तंत्रिका–कोशिका को गंडिकाएँ (Ganglion) तथा तंतु होते हैं। यह तंत्र केन्द्रीय तंत्रिका–तंत्र के तंतुओं द्वारा संबंधित रहता है।

क्रियाओं तथा रचना के आधार पर इस तंत्र को दो भागों में विभाजित किया गया है–

1. अनुकंपी (Sympathetic) और 2. परानुकंपी (Parasympathetic)।

1. अनुकंपी तंत्र

अनुकंपी तंत्र को 'वक्ष–कटि–विभाग' भी कहा जाता है क्योंकि इसकी गुच्छिकाएँ मेरुरज्जु के कटि और वक्ष खंडों के धूसर द्रव्य में से निकलती हैं। यदि वक्ष तथा उदर को खोलकर देखा जाए तो यह प्रतीत होगा कि पृष्ठवंश के दोनों ओर श्वेत रंग की छोटी–छोटी गंडिकाओं की लम्बी श्रृंखला निकली हुई है जो कपाल के नीचे से प्रारम्भ होकर अनुत्रिकास्थि के अन्त तक चली गई है। ये गंडिकाएँ माला की तरह लटकी रहती हैं। मेरुरज्जु के दोनों ओर गुच्छिकाओं की इस श्रृंखला को 'अनुकंपी श्रृंखला' कहते हैं। गंडिकाएँ आपस में तंत्रिका तंतुओं द्वारा संबंधित रहती हैं और प्रत्येक गंडिका से तंतु निकल कर सुषुम्ना से मिले रहते हैं। ऐसे तंतुओं को 'गंडिका पूर्व तंतु' कहते हैं। इस प्रकार कशेरुकों के पार्श्व में 22 गंडिकाओं की एक श्रृंखला दाहिनी तथा बायीं दोनों ओर स्थित हैं। इन्हें 'पार्श्व कशेरुकी गंडिकाएँ' (Lateral Vertebral Ganglion) कहते हैं। इन गंडिकाओं से गंडिका पश्च तंतु निकलते हैं जो रक्तवाहिकाओं के साथ मिलकर शरीर के विभिन्न अंगों में तंतु के रूप में फैले रहते हैं। इन गंडिकाओं तथा उनके तंतुओं को 'अनुकंपी तंत्रिका' कहते हैं।

अनुकंपी तंत्रिका तंत्र के कार्य

अनुकंपी तंत्रिकाओं द्वारा अनेक अंगों की क्रियाओं का नियंत्रण तथा नियमन होता है। इनकी क्रियाएं अधिक हैं। त्वचीय तंत्रिकाओं के साथ मिलकर ये त्वचा की अनैच्छिक तंत्रिकाओं से क्रिया करवाती हैं। त्वचा स्थित रक्त–वाहिकाएँ इनकी सक्रियता से ही संकुचित होती हैं और हृदय, मस्तिष्क तथा पेशियों को अधिक रक्त मिलता है, परिणामस्वरूप रक्त में दाब बढ़ जाता है। स्वेद ग्रंथियों में अधिक स्वेद बनता है। उदर के भीतर के अंगों में तंत्रानुगा (चसंदबीदपब) तंत्रिकाओं के साथ पहुंचकर अंत्रियों की गति का नियमन करते

हैं। इसके द्वारा ही यकृत में ग्लायकोजिन बनता है, फिर वह ग्लूकोज में परिवर्तित होता है। पाचक क्षेत्र की चरता और स्राव अनुकंपी आवेगों से घटता है। इसके ही आवेगों से हृदय की गति बढ़ती है। मूत्राशय की भित्तियां ढीली पड़ती हो तथा संवरणी पेशी संकुचित होती है।

अधिवृक्क ग्रंथियों में 'एड्रिनेलिन' नामक रासायनिक वस्तु इसकी क्रिया से ही बनती है जिससे शरीर के ताप का नियंत्रण तथा नियमन होता है। इस वस्तु के साथ मिलकर नियामक तंतुओं की क्रिया यकृत पर होती है, जिससे रक्त में ग्लूकोज की मात्रा बढ़ जाती है और जिसका प्रभाव रक्तवाहिनियों पर पड़ता है। यह रक्तवाहिनियों के भीतर व उनके चारों ओर के ऊतकों में उपस्थित जल की मात्रा का नियमन करता है। जब ऊतकों में जल की कमी होती है तब रक्त से जल ऊतकों में चला जाता है। जब ऊतकों में जल की मात्रा अधिक होती है, तब जल ऊतकों से रक्त में चला आता है। आवश्यकता पड़ने पर अवसर के अनुकूल शरीर में शक्ति आ जाती है। यह शक्ति इसी वस्तु तथा अनुकंपी तंत्रिका की क्रिया से उत्पन्न होती है। प्रायः यह देखा जाता है कि किसी के आक्रमण करने पर हम आक्रमणकारी का विरोध करने को तैयार हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में शरीर की पेशियां तन जाती हैं, रक्त–संचार बढ़ जाता है, मुख लाल हो जाता है, त्वचा में रोमहर्ष हो जाता है और नथुने फूल जाते हैं आदि। यह सब अनुकंपी तंत्रिका की सक्रियता के फलस्वरूप ही होता है।

2. परानुकंपी–इस तंत्र को 'कपाल त्रिक विभाग' भी कहते हैं क्योंकि इसकी गुच्छिका तंत्रिका–कोशिकाएँ, मस्तिष्क और मेरुरज्जु के त्रिक खंडों में पायी जाती हैं। इसके दो भाग हैं–1. ऊर्ध्व और 2. अधो। ऊर्ध्व भाग (Cranial Outflow) के सूत्र मध्य मसितष्क, सेतु और मेरुशीर्ष के विशेष केन्द्रों से निकलते हैं। अधो भाग (Sacral Outflow) के तंतु त्रिक प्रान्त में स्थित मेरु के तृतीय, चतुर्थ और पंचम खंडों में स्थित कोशिकाओं से निकलते हैं। मस्तिष्क से जो इसके सूत्र निकलते हैं, वे अलग तंत्रिका के रूप में नहीं रहते। इनके तन्तु तीसरी, सातवीं और दसवीं कपाल–तंत्रिका के साथ निकलते हैं।

इन तंतुओं का अन्त किसी गंडिका या जालिका में होता है किंतु, दसवीं या वेगस के तंतु शरीर में बहुत दूर–दूर तक जाते हैं। सबसे ऊपर मध्य मस्तिष्क से आने वाले तंतु नेत्र–चालकी या तृतीय कपाल तंत्रिका के केन्द्र से निकलते हैं और परितारिका में समाप्त हो जाते हैं। इसके द्वारा ही उत्तेजनाएँ परितारा में पहुंचती हैं जिससे पेशियों में संकुचन होता है और नेत्र का तारा संकुचित तथा प्रसारित होता है। इसी प्रकार सेतु में स्थित कोशिकाएँ आनन–तंत्रिका के केन्द्र से संबंधित हैं। इनसे जो पूर्व गुच्छिका (गंडक) तंतु निकलते हैं, वे आनन–तंत्रिका के मौखिक तंत्रिका (Chordatympanic) दो शाखा में होकर जिह्वाधर और उपभंजिका (Submaxillary) ग्रंथियों के पास स्थित गुच्छिकाओं में चले जाते हैं तथा वहां से लाल ग्रंथियों में पहुंच कर वहां की रक्त–नलिकाओं को प्रसारित करते हो और ग्रंथियों के स्राव को बढ़ाते हैं। नौवीं और दसवीं मस्तिष्कीय तंत्रिका (Vagus) के केन्द्र मेरुशीर्ष में होते हैं पर केन्द्रों से निकलने वाले पूर्व गंडक तंतु नौवीं तथा दसवीं तंत्रिकाओं द्वारा आते हो। गौरीतंतु कर्ण (Otic) गंडिका में समाप्त हो जाता है।

वेगस तंत्रिका का शरीर में अधिक दूर तक विस्तार रहता है। इसमें अधिकतम परानुकंपी तंतु होते हैं। मेरुशीर्ष से इसके पूर्व गंडक तंतु तंत्रिका के रूप में धमनी और शिरों के साथ–साथ ग्रीवा से होते हुए वक्ष में पहुंचते हो जहाँ से ये फुफ्फुसीय जालिका में फंसे रहते हैं। वहां से इसके तंतु वायु–प्रणालिकाओं की भित्तियों में जाते हैं। इस तरह हम देखते हो कि पूर्व गंडक तंतु हार्दिकी जालक तक तथा फिर जालक से तंतु हृदय में जाते हैं। फिर यह तंत्रिका उदर में चली जाती है, जहां से इसके तंतु आमाशय, क्षुद्रान्त्र, वृहदान्त्र, वृहद् पित्ताशय, पित्तनलिकाओं तथा अग्न्याशय में फैले रहते हैं। इन तंतुओं की जालिका समस्त प्रान्त की भित्तियों में रहती हैं। पूर्वगंडिका–तंतु जालिका तक जाते हैं। पश्चगंडिका–तंतु अंगों की भित्ति में जाकर वितीर्ण हो जाते हैं और अंगों की क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं। त्रिक तंत्रिका वृहदांत्र (Large Intestine) के शेष भाग और श्रोणि (Pelvis) में स्थित अंगों का नियंत्रण करती है। यह तंत्रिका मेरुरज्जु के दूसरे, तीसरे और चौथे कटि–खंड से अग्र मूलों के साथ बाहर निकलती हैं। मूलों से पृथक् होने के बाद यह आपस में मिलकर श्रोणिगा तंत्रिका बनाती है। इससे वृहदतांत्र का शेष 2/3 भाग और मूत्राशय के प्रेरक तंतु मिलते हैं। इसके तंतु मूत्राशय तथा गुदा की पेशियों के संकुचन को नियंत्रित करते हैं।

परानुकंपी तंत्र के कार्य

परानुकंपी तंत्र के ऊर्ध्व भाग के तंतुओं की उत्तेजना के फलस्वरूप नेत्र का तारा संकुचित होता है, कर्णमूल, जिह्वाधर तथा अधोहनवीय ग्रंथियों से अधिक सुख उत्पन्न होता है। इससे हृदय की गति मंद होती है तथा श्वासनलिकाओं का संकुचन होता है। आमाशय–आंत्र तथा अग्न्याशय से अधिक स्राव बनता है। त्रिक से निकलने वाले तंतुओं की उत्तेजना से मलाशय, मूत्राशय, गुदाआदि का संकुचन बढ़ता है। इस तंत्र द्वारा ऐसिटिकोलीन (।बमजलबीवसपदम) नामक रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होता है। तंत्रिका कोशिकाओं और अक्षतन्तु के संगम स्थानों के द्वारा जो उत्तेजना एक ओर से दूसरी ओर जाती है, वह एसिटिकोलीन के ही कारण होता है। ऐच्छिक पेशियों का संकुचन भी इस पदार्थ के कारण ही होता है। नेत्र की परितारिका, लाला ग्रंथियां, आमाशय, अंत्रियां, मूत्राशय आदि में जाने वाले परानुकंपी तंतु इस रासायनिक पदार्थ को उत्पन्न करते हैं। अनुकंपी तथा परानुकंपी दोनों तन्त्रों में गंडिकापूर्व तथा गंडिकापश्च तंतु होते हैं। परानुकंपी के गंडिकापूर्व तथा गंडिकापश्च तंतु परानुकंपी होते हैं। अनुकंपी में भी गंडिका–पूर्व तंतु परानुकंपी तथा गंडिकापश्च अनुकंपी होते हैं। शरीर के जिन अंगों में इन दोनों भागों के तंतु जाते हैं, वहाँ की क्रिया एक–दूसरी के विपरीत होती है; जैसा नीचे की सारणी से स्पष्ट होता है–

शरीर के अंग	अनुकंपी का प्रभाव	परानुकंपी का प्रभाव
हृदय	नाड़ी–स्पंदन–गति बढ़ना	नाड़ी–गति मंद करना
आहारनाल	आंत्र–गति को शिथिल करना	गति तीव्र करना
आंखें	परितारिका प्रसारित करना	प्रकुंचित करना
पाचक क्षेत्र	चरता और स्राव घटना	बढ़ाना
त्वचा तथा उदर	संकुचित करना	प्रसारित करना
पेशियों की रक्त प्रणाली	प्रसारित करना	संकुचित करना

अनुकंपी और परानुकंपी तंत्र शरीर की क्रियाओं को संतुलित एवं नियमित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अंतर्यात्रा के द्वारा इस तंत्र में संतुलित स्थापित किया जा सकता है। अनुकंपी तंत्र का कार्य सक्रियता लाना है तो परानुकंपी का कार्य अतिसक्रियता को कम करना। जैसे कि इन दोनों तंत्रों के कार्यों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है। अतः अतर्यात्रा के द्वारा अनुकंपी तथा परानुकंपी तंत्र को संतुलित किया जा सकता है जिससे व्यक्ति का व्यवहार भी संयमित एवं संतुलित रह सके।

2.3.3 मस्तिष्क मेरु–तरल (Cerebrospinal Fluid)

प्रमस्तिष्क मेरु तरल एक तरल, स्वच्छ तथा रंगहीन पारदर्शी पानी जैसा पदार्थ होता है। यह केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में रहता है। केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में लसिका वाहिनियाँ नहीं होतीं। अतः लसिका वाहिनियों का कार्य यह तरल ही मस्तिष्क में करता है।

यह तरल केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के पार्श्व निलय (Lateral Ventricle) में रक्तक जालिका (Choroid Plexù) द्वारा बनता है। रक्तक जालिका एक केशिकाओं का गुच्छा होता है और इन्हीं केशिकाओं में स्थित तरल छनकर इस तरल का रूप ले लेता है। यह तरल लगभग 150 घन से.मी. केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में रहता है। प्रतिदिन एक औसतन में व्यक्ति में यह 500 घन से.मी. की दर से बनता है, जिसका अधिकांश शरीर में यह अवशोषित हो जाता है। इस तरह हम देखते हो कि मेरु–तल केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में बनता है, परिसंचरण करता है तथा यह अवशोषित होता है।

प्रमस्तिष्क मेरु–तरल की रचना

प्रमस्तिष्क मेरु–तरल में निम्नलिखित तत्व मिले रहते हैं–

1. प्रोटीन–20–30 मि.ग्रा. प्रतिशत
2. ग्लूकोज–50–80 मि.ग्रा. प्रतिशत

3. यूरिया–10–30 मि.ग्रा. प्रतिशत 4. क्लोराइड–700–750 मि.ग्रा. प्रतिशत

इनके अतिरिक्त इसमें पोटासियम, कैल्सियम, सोडियम, यूरिक अम्ल, सल्फेट तथा क्रिएटिनिल भी मिला रहता है।

तानिका–शोथ या मस्तिष्कावरण–शोथ (Meningiti) आदि रोगों में इस तरल की मात्रा बढ़ जाती है। तरल की मात्रा बढ़ जाने से मस्तिष्क–द्रव्य पर दाब पड़ता है और अधिक हो जाता है। ऐसी स्थिति में कटिवेधन (Lumbar-Puncture) कर इस तरल को मस्तिष्क से निकाल दिया जाता है।

1. यह तरल प्रमस्तिष्क मेरु के चयापचयों को नियंत्रित रखता है तथा निकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

2. यह तरल प्रमस्तिष्क मेरु–द्रव्य के बाहर और भीतर रहता है। अतः कम या अधिक दाब पड़ने पर दाब को स्थिर रखता है। इस तरह यह मस्तिष्क को क्षतिग्रस्त होने से बचाता है।

3. यह तरल प्रमस्तिष्क मेरु–द्रव्य को कुछ अंशों में पोषक तत्त्व तथा ऑक्सीजन पहुंचाता है।

उपरोक्त चर्चा से सेरिब्रो स्पाइनल फ्लूड की महत्ता स्पष्ट होती है। अंतर्यात्रा के दौरान चित्त की यात्रा शक्ति केन्द्र से ज्ञान केन्द्र से ज्ञान तक यात्रा होती है। जहां चित्त का प्रवाह होता है वहां परवर्तन स्वतः होने लगते हैं। सी. एस. एफ. तरल द्रव के रूप में होता है जिसमें अनेक आवश्यक तत्त्वों का समावेश होता है। अतंर्यात्रा के दौरान के यह द्रव समुचित मात्रा में गति करता है। गति करने से आवश्यक तत्त्व संबंधित स्थानों में तो जाता ही है साथ ही समुचित परिसंचरण से विकार होने की संभावना भी कम हो जाती है। अतः यह द्रव अपने आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए सतत् क्रियाशील रहेगा।

2.4 अतंर्यात्रा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण

अंतर्यात्रा के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को निम्न प्रकार समझा जा सकता है–

2.4.1 इड़ा पिंगला का संतुलन

ऐसा माना जाता है कि हमारे शरीर में मुख्य नाड़ियों में इड़ा और पिंगला प्रमुख हैं। इनमें एक की प्रकृति ठंडी है तो दूसरे की गर्म। शरीर में इन दोनों का संतुलन आवश्यक माना जाता है। इंड़ा–पिंगला का स्थान सुषुम्ना के दांई तथा बांई ओर है। अतः अंतर्यात्रा के दौरान सुषुमना पथ में चित्त की यात्रा करने से ये दोनों नाड़ियों में संतुलन स्थापित किया जा सकता है। इसका परिणाम केवल आध्यात्मिक ही नहीं होगा वरन् व्यवहारिक भी होगा। जहां इड़ा की सक्रियता से व्यक्ति में दब्बूपन आ जाता है वहीं पिंगला की सक्रियता से व्यक्ति उत्तेजित हो जाता है। अतः इन दोनों का संतुलन से व्यक्ति का व्यवहार भी संतुलित हो सकेगा।

2.4.2 सुषुम्ना का जागरण

ध्यान–साधना प्राण को साधने की पक्रिया है। शरीर स्थित 72 हजार नाड़ियों में इड़ा–पिंगला और सुषुम्ना को प्रमुख माना जाता है। साधना के द्वारा इड़ा–पिंगला नाड़ियों से प्राण का प्रवाह सुषुम्ना पथ में प्रवाहित किया जाता है जिससे साधक अपनी आध्यात्मिक साधना में गतिशील होता है। संषुम्ना एक ऐसी महत्त्वपूर्ण नाड़ी है जिसका संबंध शरीर के लगभग अंगों से है। सुषुम्ना का अंतिम छोर शक्ति केन्द्र के नाम से जाना जाता है। कहा जाता है कि यहां पर शक्ति सुप्त अवस्था में रहती है। इस सुप्त शक्ति का कोई विशेष उपयोग नहीं हो पाता है। अतः अंतर्यात्रा के द्वारा सुषुम्ना में शक्ति के जागरण से इसका ऊर्ध्वारोहण किया जाता है। ज्ञानकेन्द्र पर इस शक्ति को पहुंचाकर साधक अपने जीवन में आनंद का अनुभव कर सकता है। कहा जाता है कि जहां चित्त की यात्रा होती है, वहीं प्राण का अनुगमन भी होता है। अंतर्यात्रा में चित्त को शक्ति केन्द्र से ज्ञानकेन्द्र तक की यात्रा कराई जाती है जिससे प्राण भी उसी के अनुरूप गति करता है। चित्त की यह यात्रा अनुभव के साथ आगे बढ़ती है। इसी के कारण प्राण की यात्रा भी ऊर्ध्वमुखी होती है। अतः कहा जा सकता है कि अंतर्यात्रा का प्रयोग सुषुम्ना के जागरण की प्रक्रिया है।

बोध–प्रश्न

1. अन्तर्मुखता का अर्थ क्या है?
2. केन्द्रीय तंत्रिका–तंत्र के कितने भाग हैं?
3. वैसल गंगलिया के कितने भाग हैं?
4. वक्ष कटि विभाग किसे कहा जाता है?
5. शरीर की क्रियाओं को संतुलित एवं नियमित रखने में किसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है?

2.5 अंतर्यात्रा की उपलब्धियाँ

अंतर्यात्रा की उपलब्धियों को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है–

2.5.1 शारीरिक स्वास्थ्य की उपलब्धि

अंतर्यात्रा के द्वारा शरीर स्वस्थ होता है। वैज्ञानिक दृष्टि से अनुकंपी तथा परानुकंपी तंत्र में संतुलन स्थापित होता है जिससे व्यक्ति का व्यवहार भी संतुलित रहता है। साथ ही इस तंत्र से जुड़े अवयव भी सुचारु तथा व्यवस्थित रूप से अपने कार्य का निर्वाह करते हैं। उदाहरणार्थ क्रोध के समय अनुकंपी तंत्र तंत्र सक्रिय रहता है तो श्वास की दर बढ़ जाती है, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है आदि। इससे स्पष्ट है कि श्वसन तंत्र तथा रक्त संचरण तंत्र आदि पर इसका प्रभाव पड़ता है। यदि यह तंत्र इसी प्रकार असंतुलन की स्थिति में रहे तो उससे संबंधी अवयव भी अस्वस्थ हो जाएंगे। इसका यही परिणाम होगा कि व्यक्ति का स्वास्थ्य सही नहीं रह पाएगा। इसके विपरीत यदि परानुकंपी अति सक्रिय रहे तब भी उस तंत्र से संबंधित अवयव अति सक्रिय रहने से स्वास्थ्य कमजोर हो जाएगा। अतः अंतर्यात्रा के द्वारा इन दोनों तंत्रों को संतुलित एवं स्वस्थ रखा जा सकता है। योग शास्त्र के अनुसार प्राण की तीन महत्त्वपूर्ण नाड़ियां हैं– इड़ा और पिंगला और सुषुम्ना। इन तीनों में असंतुलन होने से स्वास्थ्य प्रभावित होता है। अतः अंतर्यात्रा के द्वारा प्राण का संतुलन स्थापित होने से शरीर की प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास हो सकेगा।

2.5.2 मानसिक स्वास्थ्य की उपलब्धि

मानसिक शक्तियों का विकास सफलता के लिए आवश्यक होता है। इन मानसिक शक्ति के सभी केन्द्र मस्तिष्क में विद्यमान हैं। स्मरण, कल्पना, चिंतन, तर्क, निर्णय, अभिव्यक्ति आदि शक्तियां मस्तिष्क से ही संबंधित हैं। मस्तिष्क का वजन शरीर के अनुपात में 2 प्रतिशत होता है लेकिन इसे 20 प्रतिशत पोषण की आवश्यकता होती है। सामान्यतः मस्तिष्क को भोजन और श्वास से ऊर्जा मिलती है लेकिन उच्च शक्तियों के विकास के लिए अंतर्यात्रा का प्रयोग महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अंतर्यात्रा के द्वारा शक्ति केन्द्र से ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण कर मस्तिष्क को ऊर्जावान बनाया जा सकता है। मस्तिष्क की यह अतिरिक्त ऊर्जा मस्तिष्कीय क्रिया–कलापों को व्यवस्थित ढंग से करने में तो सहायक होगी ही साथ ही नये आयामों को खोलने में भी सहायक हो सकेगी।

2.5.3 भावनात्मक स्वास्थ्य की उपलब्धि

मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति के व्यवहार का आदि स्रोत भाव है। भाव व्यवहार में प्रकट होने पर संवेग कहलाते हैं। ये संवेग वैसे ही होंगे जैसे कि भाव होंगे। अतः भावों की निर्मलता व्यवहार की निर्मलता के लिए बहुत आवश्यक है। जहां सकारात्मक भाव व्यक्तित्व विकास में सहायक होते हैं वहीं निषेधात्मक भाव व्यक्तित्व को विघटित करते हैं। निषेधात्मक भाव व्यक्ति की शक्ति को क्षय करते हैं। बिना शक्ति अथवा बिना ऊर्जा के व्यक्ति अपने जीवन में बहुत बड़ा कार्य नहीं कर सकता है, बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं कर सकता है। इसलिए जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है भाव शुद्धि। भाव का उद्गम स्थल मस्तिष्क का एक भाग लिम्बिक सिस्टम माना जाता है। अंतर्यात्रा के द्वारा प्राण के संतुलित प्रवाह से भावधारा पर भी इसका

सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। साथ नाड़ीतंत्र का संतुलन होने से भावधारा भी प्रभावित होगी। अतः अंतर्यात्रा का प्रयोग भावनात्मक स्वास्थ्य को बनाए रखने में सहायक हो सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अन्तर्यात्रा का प्रयोग अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध होता है। इस प्रयोग के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक पक्ष की जनकारी से व्यक्ति अपने जीवन को उपयुक्त दिशा दे सकने में समर्थ हो सकता है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. अन्तर्यात्रा का प्रमुख प्रयोजन क्या है?
2. प्राण की कितनी धाराएँ हैं?
3. घ्राणकंद कहाँ स्थित है?
4. प्रमस्तिष्क मेरु–तरल कहां रहता है?
5. इड़ा–पिंगला नाड़ियां कहां स्थित हैं?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. अन्तर्यात्रा का प्रयोजन क्या है?
2. अन्तर्यात्रा की निष्पत्तियां लिखिए।

3. निबंधात्मक प्रश्न–

1. अन्तर्यात्रा का आध्यात्मिक–वैज्ञानिक दृष्टिकोण क्या है?

श्वास प्रेक्षा

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 भूमिका
2.2 श्वास–प्रेक्षा का प्रयोजन
 2.2.1 ज्ञाता–द्रष्टा भाव
2.3 श्वास–प्रेक्षा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
 2.3.1 श्वसन–प्रक्रिया
 2.3.2 वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्ण श्वास
 2.3.3 पूर्ण श्वसन के लाभ
2.4 श्वास–प्रेक्षा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण
 2.4.1 प्राण का आहरण
 2.4.2 श्वास और प्राण
 2.4.3 श्वास के आलम्बन का महत्त्व
 2.4.4 दीर्घ श्वास
 2.4.5 श्वास और संवेग

2.5 श्वास–प्रेक्षा : प्रकार

2.5.1 दीर्घश्वास–प्रेक्षा

2.5.2 समवृत्ति श्वास–प्रेक्षा

2.6 श्वास–प्रेक्षा की निष्पत्तियां

2.6.1 चित्त की प्रसन्नता

2.6.2 मानसिक एकाग्रता

2.6.3 जागरूकता

2.6.4 समभाव

2.6.5 शक्ति–जागरण

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के निम्न उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है–

1. श्वास–प्रेक्षा के प्रयोजन को समझा जा सकता है।
2. श्वास–प्रेक्षा के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।
3. श्वास–प्रेक्षा के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को समझा जा सकता है।
4. श्वास–प्रेक्षा की निष्पत्तियों को समझा जा सकता है।

2.1 भूमिका

श्वास जीवन की आवश्यकता एवं अनिवार्यता है। श्वास जीवन का आधार है। श्वास के माध्यम से ही शरीर में आक्सीजन की आपूर्ति होती है। दूसरे शब्दों में श्वास के माध्यम से ही प्राणवायु शरीर को मिलती है। अतः श्वास जीवनी शक्ति का संवाहक है। इसके बिना कुछ समय तक तो ठहरा जा सकता है लेकिन अधिक समय तक नहीं। इसका कारण है कि शरीर को प्रतिक्षण प्राणवायु की आवश्यकता होती है। भोजन–पानी की तुलना में यह अधिक उपयोगी है क्योंकि भोजन–पानी के बिना व्यक्ति कुछ दिनों तक भी रह सकता है लेकिन श्वास के बिना नहीं। इसलिए इस श्वास को समझना, इसका सही उपयोग करना श्वास–प्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

2.2 श्वास–प्रेक्षा का प्रयोजन

श्वास–प्रेक्षा के प्रयोजन को निम्न प्रकार समझा जा सकता है–

2.2.1 ज्ञाता–द्रष्टा भाव

श्वास–प्रेक्षा ज्ञाता–द्रष्टा भाव को विकसित करने का सक्षम उपाय है। हमारी चेतना का मूल धर्म है–जानना और देखना, ज्ञाता–भाव और द्रष्टा–भाव। हम जब अपने अस्तित्व में होते हैं– आत्मा की सन्निधि में होते हो तब केवल जानना ओर देखना– दो ही बातें घटित होती हैं किन्तु जब बाहर आते हैं, अपने केन्द्र से हटकर परिधि में आते हैं तब साथ में और कुछ जुड़ जाता है, मिश्रण हो जाता है। मिश्रण होते ही जानना–देखना छूट जाता है और सोचना–विचारना, चिन्तन करना, मनन करना रह जाता है। चिन्तन–मनन सत्य की खोज के साधन नहीं हो। सत्य की खोज के लिए अध्यात्म की चेतना को जगाना होगा। यह द्रष्टाभाव से ही सम्भव होता है। श्वास को देखना चेतना–जागरण की दिशा में पहला कदम है। सही दिशा में उठाया गया कदम मंजिल तक पहुंचाने वाले अगले कदमों की श्रृंखला का आदि बिन्दु होता है। श्वास को देखना आत्म–साक्षात्कार की मंजिल तक पहुंचने का पहला कदम है।

श्वास को देखने का अर्थ है– दर्शन की बात पर आ जाना। यहां सोचना छूट जाता है, केवल देखना रह जाता है। देखना शुरु करते ही विचारों और विकल्पों पर प्रहार होने लग जाता है। विकल्पों से हटकर अविकल्प और चिन्तन से हटकर अचिन्तन पर कदम बढ़ने लगते हैं। श्वास प्रेक्षा के द्वारा हम जानने और देखने की मूल प्रवृत्ति का प्रारंभ करते हैं, ज्ञाता भाव, दृष्टा भाव को विकसित करते हैं। जब हम श्वास प्रेक्षा का अभ्यास करते हैं तब श्वास के साथ चित्त को जोड़ते हैं या चित्त से श्वास को देखते हैं। श्वास को देखते हैं किन्तु सोचते नहीं। मूलतः 'केवल देखने' का यह प्रयत्न है। साथ–साथ एकाग्रता भी सधती है किन्तु हम श्वासप्रेक्षा केवल एकाग्रता के लिए नहीं करते, ज्ञाता–द्रष्टा भाव को विकसित करने के लिए करते हैं।

2.3 श्वास–प्रेक्षा का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

भोजन पानी की तुलना में श्वास भोजन से अधिक मूल्यवान् ऊर्जा–स्रोत है। वस्तुतः श्वास ही जीवन है। हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया श्वसन के साथ गाढ़ रूप से जुड़ी हुई है। श्वसन क्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है–शरीर की कोशिकाओं से निःसृत कार्बनडाइ ऑक्साइड को शरीर से बाहर निकाल देना। कोशिकाओं में ऊर्जा के लिए ऑक्सीजन की निरन्तर आवश्यकता होती है तथा ऊर्जा उत्पादन की क्रिया के साथ–साथ कार्बनडाइ ऑक्साइड पैदा हो जाता है। यदि इसे शरीर के भीतर एकत्रित होने दिया जाए तो उससे कोशिकाएँ विषाक्त हो जाएँगी। सम्यक् श्वास के सर्वोपरि महत्त्व को किसी भी प्रकार उपेक्षित नहीं किया जा सकता पर दुर्भाग्य से बहुत थोड़े ही लोग सही और पूरा श्वास लेते हैं। दुर्बल स्वास्थ्य के अनेक लक्षण रक्त की अपर्याप्त ऑक्सीजन–आपूर्ति तथा मंद परिसंचरण के परिणाम हो। हम न केवल गलत ढंग से श्वास लेते हैं अपितु बहुत बार जो श्वास लिया जाता है, वह भी अशुद्ध एवं दूषित होता है। परिणामस्वरूप हमारी स्नायविक दुर्बलता और उत्तेजना बढ़ती है और रोगों का प्रतिकार करने की हमारी शक्ति में भारी कमी हो जाती है।

2.3.1 श्वसन–प्रक्रिया

फुफ्फुस (फेफड़े) अपने आप में मांसपेशी रहित होते हैं। अतः श्वसन–प्रक्रिया की आवश्यक क्रिया में उनका सीधा योगदान नहीं मिलता। यह यांत्रिक बल तीन प्रकार से उपलब्ध हो सकता है–

1. तनुपट (डायाफ्राम) को ऊपर नीचे खिसकाकर,
2. अन्तपर्शुकीय मांसपेशियों के संकुचन–विस्तरण के द्वारा,
3. हंसली के हिस्से को ऊपर–नीचे खिसका कर।

कोशिकाओं तक ऑक्सीजन को पहुंचाने का दायित्व हृदय का होता है जो पम्पिंग के द्वारा ऑक्सीजन युक्त हीमोग्लोबिन वाले रक्त को शरीर के समस्त भागों तक पहुंचा देता है। आंतरिक श्वसन–क्रिया शरीर के विभिन्न भागों में क्रियाशील ऊतकों के भीतर घटित होती है। इस क्रिया के दौरान हीमोग्लोबिन से मुक्त होकर ऑक्सीजन–स्कंध ऊतकों को उपलब्ध कराए जाते हो तथा कार्बनडाइ ऑक्साइड–स्कंध रक्त में मिलाकर वापस फुफ्फुस की ओर भेज दिए जाते हैं।

जहां शरीर की अधिकांश महत्त्वपूर्ण प्रणालियों का नियमन स्वतः (अनैच्छिक) नियंत्रण से किया जाता है वहां श्वसन–क्रिया का नियमन ऐच्छिक और अनैच्छिक दोनों प्रकार से होता है। सामान्य रूप से चलने वाली लयबद्ध श्वास–प्रक्रिया को श्वसन–मांसपेशियों में फुफ्फुस–तंत्रिकाओं के माध्यम से श्वसन–केन्द्र को फीडबैक–पद्धति द्वारा सूचना भेजकर चालू रखा जाता है। इसके अतिरिक्त ऐच्छिक क्रिया के द्वारा भी इसे (श्वसन–केन्द्र को) प्रभावित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति अपने श्वास को कुछ देर के लिए ऐच्छिक रूप से रोक भी सकता है। श्वसन–क्रिया में श्वास नाक से आता है और मुंह बन्द रखा जाता है। ऐसा करने से हवा में कीटाणु, धूलि–कण तथा अन्य प्रदूषण नासिकाओं के भीतर रही हुई श्लेष्मा–झिल्ली की स्निग्धता के कारण तथा नाक में स्थित बालों के कारण वहां रोक दिये जाते हैं। श्वसन में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्वास को भीतर लेते समय पेट को भीतर डालने की बजाय बाहर फुलाना

चाहिए। सामान्य रूप से लोग श्वास लेते समय पेट को सिकोड़ते हैं जो ठीक नहीं है। उसी प्रकार श्वास छोड़ते समय पेट को सिकोड़ना चाहिए।

सामान्य रूप से व्यक्ति एक श्वास के दौरान आधा से 1 लीटर हवा लेता है किंतु सही अभ्यास के द्वारा इस मात्रा को चार–पांच लीटर तक बढ़ाया जा सकता है। हममें से अधिकांश व्यक्ति छोटे टुकड़ों में छिछला श्वास लेते हैं जिसकी संख्या 15 से 16 प्रति मिनट होती है। प्रशिक्षण के द्वारा हम मंद एवं लम्बा श्वास लेने का अभ्यास बढ़ा सकते हैं। श्वास की गति को मंद करने से एक मिनट में चार या पांच श्वास तक आसानी से पहुंचा जा सकता है। मंद श्वास के द्वारा हमें अनेक लाभ होते हैं। जैसे–

1. सारे शरीर में होने वाली टूट–फूट की गति में मंदता, 2. हृदय के कार्यभार में कमी,

3. रक्तचाप में अनावश्यक वृद्धि को रोकना, 4. स्नायविक शांति में वृद्धि।

2.3.2 वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्ण श्वास

वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्ण श्वसन का प्रारम्भ मंद, शांत एवं पूरे उच्छ्वसन के साथ होता है। अन्तःश्वास समाप्त होने पर जब उसके लिए प्रयुक्त मांसपेशियां शिथिल हो जाती हो तब विकसित छाती का हिस्सा अपने भार से ही सिकुड़ जाता है और भीतर की हवा बाहर निकलनी प्रारंभ हो जाती है। उसके बाद पेट की मांसपेशियों को संकुचित करने से तनपुट ऊपर की ओर खिसकता है जिससे फुफ्फुस में से और अधिक हवा निष्कासन करने में सहायता होती है। फुफ्फुसीय ऊतकों की स्पंजी रचना के कारण हवा का अंश भीतर रह जाता है। यह अवशिष्ट हवा अन्तःश्वसन के द्वारा ताजी प्रविष्ट हवा के साथ मिलकर आगे की प्रक्रिया के लिए प्राप्त हवा के रूप में काम आती है। फुफ्फुसों को जितना अधिक खाली किया जाएगा उतना ही उनमें ताजी हवा का प्रवेश अधिक मात्रा में हो सकेगा और श्वास–प्रकोष्ठों में उपयोगार्थ हवा उतनी ही अधिक विशुद्ध या अमिश्रित रह सकेगी। अतः जब तक पूरी तरह उच्छ्वसन नहीं करते तब तक अन्तर्श्वसन पूरा और सम्यग् नहीं हो सकता।

फुफ्फुसों को खाली करने के बाद दूसरा कदम उन्हें अधिक से अधिक भरने का है। फुफ्फुसों में समाने वाली हवा की मात्रा को फुफ्फुसीय क्षमता अथवा प्राण–क्षमता कहते हैं। औसतन रूप में यह लगभग 6 लीटर है। इस क्षमता को बढ़ाने की बात करने से पहले क्षमता का पूरा उपयोग हो सकता है, यह चिंतन आवश्यक है।

फुफ्फुस के इर्द–गिर्द श्वसन–क्रिया में उपयोगी तीन प्रकार की मांसपेशियों का उल्लेख किया जा चुका है। ये तीन प्रकार की मांसपेशियाँ हैं–

1. अंतरापर्शुक मांसपेशियां–ये पसलियों के ऊपर और नीचे के छोर से संलग्न रहती हें। इन मांसपेशियों के संकुचित होने पर पसलियों का समूचा ढांचा ऊपर तथा बाहर की ओर फैलता है और इनके शिथिल होने पर वह उसके विपरीत दिशा में गति करता है। अथ्रात् संकुचित होता है।

2. तनुपट (डायफ्राम)–श्वसन क्रिया में उपयोगी मांसपेशियों में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका आकार गुंबद जैसा होता है। यह मांसपेशी वक्षीय गुहा के तल के रूप में तथा उदरीय गुहा के छत के रूप में होती है। जब इसे संकुचित किया जाता है तब यह उदरीय अंगों को नीचे की ओर दबाती है तथा वक्षीय गुहा के परिणाम को बढ़ाती है।

3. हंसली की मांसपेशियां–हंसली को ऊपर को उठाकर इन मांपेशियों का संचालन किया जाता है। इस क्रिया के द्वारा फेफड़े के ऊपर के हिस्से में हवा का प्रवेश होता है।

पूरे लंबे अंतर्श्वसन के लिए उक्त तीनों प्रकार की मांसपेशी समूहों का संयुक्त उपयोग किया जाता है। यह क्रिया एक ही बार में लयबद्ध रूप में की जानी चाहिए। हवा का भीतर प्रवेश निरंतर होना चाहिए बीच–बीच में हॉफना नहीं चाहिए।

2.3.3 पूर्ण श्वसन के लाभ

कोशिकाओं के सुचारु रूप से संचालन तथा क्षमता–वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन उपलब्ध हो, इसलिए सही रूप में श्वास लेना बहुत जरूरी और महत्त्वपूर्ण है जिससे कि शरीर की प्रत्येक कोशिका को पर्याप्त ऑक्सीजन मिल सके। फुफ्फुसों में वायुओं का आदान–प्रदान भली–भांति तभी हो सकता है जबकि श्वसन–क्रिया पूरी और मंद हो। फुफ्फुस की औसत क्षमता 5 से 6 लीटर तक है पर सामान्यतः मनुष्य इस क्षमता का 10 या 20 प्रतिशत ही उपयोग कर पाता है। शरीर–वैज्ञानिकों के अनुसार यह आवश्यक है कि संग्रहीत हवा श्वासकोषों में 10–12 सैकेण्ड तक रहे, जिससे ऑक्सीजन और कार्बनडाइ ऑक्साइड का अधिकतम विनिमय हो सके। इस प्राथमिक आवश्यकता के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि सम्यक् श्वसन के द्वारा हवा के आवागमन से सम्पूर्ण फुफ्फुसों की सफाई पूरी तरह हो। अन्धकार, ऊष्मा एवं आर्द्रता–युक्त फेफड़ों की सफाई ठीक न होने पर वे सूक्ष्म किंतु खतरनाक कीटाणुओं के प्रजनन के उपयुक्त स्थान बन जाते हो।

यदि श्वसन–क्रिया पूर्णतः वैज्ञानिक रूप से की जाए तो उसके परिणामस्वरूप फुफ्फुसों में अत्यधिक शक्तिशाली चूषण–क्षमता उत्पन्न की जा सकती है। लम्बे और मंद श्वास के द्वारा फुफ्फुसों में यकृत जैसे अवयवों में एकत्रित रक्त को खींचने के लिए एक प्रकार की चूषण–शक्ति पैदा होती है। तनपुट और पसली–पिचर के सम्यक् लयबद्ध स्पंदन पूरे शरीर में होने वाली शिरीय रक्त–संचार को बेहतर और सक्रिय बनाने में योगदान देते हैं। इस प्रकार हृदय और फेफड़ों–इन दोनों संचालन–बलों का सम्यक् संयोजन रक्त के परिसंचरण को श्रेष्ठ बना सकता है। ऐच्छिक और सुनियोजित दीर्घश्वास के द्वारा प्राणधारा को प्रभावित किया जा सकता है जिससे शरीर के किसी भी प्रकार के अवयव–संबंधी या क्रिया–संबंधी विकार या गड़बड़ी को पूर्णतः ठीक नहीं तो कम–से–कम अंशतः प्रभावित तो किया ही जा सकता है। यद्यपि यह प्राणधारा तीव्र आगन्तुक और औपसर्गिक विकारों को पूर्णतः ठीक करने में समर्थ न भी हैं तो भी शरीर की प्रतिकार–शक्ति को बलवती बनाने में एवं शरीर को विकारों से मुक्त रखने में निश्चित ही महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करती है।

2.4 श्वास–प्रेक्षा का आध्यात्मिक दृष्टिकोण (Spiritual Perspective)

श्वासप्रेक्षा के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को निम्न बिन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है–

2.4.1 प्राण का आहरण

श्वास का सम्बन्ध है प्राण से, प्राण का संबंध है पर्याप्ति से अर्थात् उस साधन या माध्यम से जिनसे प्राण को ग्रहण किया जाता है। यह जीवन के पहले ही क्षण में निर्मित हो जाता है। प्राण को भी प्राण चाहिए। वह प्राण आकाश–मंडल से प्राप्त होता है। सारे आकाश–मंडल में प्राण–चक्र फैला हुआ है। आहार–पर्याप्ति के योग्य वर्गणाएँ सारे आकाश में फैली हुई हैं। ऊर्जा की या प्राण–शक्ति की वर्गणाएँ फैली हुई हैं। वे प्राप्त होती हो–श्वास के माध्यम से। हम केवल श्वास ही नहीं लेते वरन् उसके साथ प्राण भी लेते हैं। शरीर–शास्त्र के अनुसार जब–जब हम श्वास लेते हैं तब बाहर की हवा भीतर जाती है जिसमें ऑक्सीजन होता है। कर्मशास्त्र की भाषा में हम प्राण लेते हैं। श्वास के साथ जाने वाला प्राण उस प्राण को संवर्द्धित करता है।

जैन आगम भगवती और प्रज्ञापना में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि जीव कब आहार लेता है और कितनी दिशाओं से आहार लेता है? प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जीव पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा–छहों दिशाओं से आहार लेता है। केवल–आहार (मुंह से ग्रहण किया जाने वाला भोजन आदि) का प्रसंग ही नहीं है, रोम–आहार (रूंओं से ग्रहण किए जाने वाले सूक्ष्म पोषक तत्त्व) भी अल्प मात्रा में होता है। वहां आहार का अर्थ है– प्राण तत्त्व का आहार। जीव जीवित रहने के लिए निरन्तर बाहर से आहरण करता है, वह निरन्तर प्राण–ऊर्जा लेता है। यह आहरण कभी नहीं रुकता।

ऊर्जा या प्राण के आहरण का सशक्त माध्यम है—श्वास। वह निरंतर चलता है तो आहरण भी निरन्तर चलता है। श्वास का संबंध है प्राण से, प्राण का संबंध है सूक्ष्म प्राण से और सूक्ष्म प्राण का संबंध है सूक्ष्मतम शरीर से, कार्मण शरीर से।

2.4.2 श्वास और प्राण

श्वास भीतर जाता है, उसके साथ प्राणवायु भीतर जाता है। प्राण तत्त्व भी भीतर जाता है और प्राण—तत्त्व का ऊर्जा के रूप में परिणमन होता है। हमारे जीवन का समूचा क्रम हमारी सारी प्रवृत्तियां प्राण—शक्ति या प्राण ऊर्जा के द्वारा संचालित होती हैं। यदि प्राण की ऊर्जा नहीं है तो चेतना टिक नहीं सकेगी। बोलना, चलना, देखना, इन्द्रिय, मन और बुद्धि का क्रियाशील होना—ये सब प्राण—ऊर्जा के कार्य हो। इनकी सक्रियता की पृष्ठभूमि में प्राण का प्रवाह कार्य करता है। शरीर, मन और इन्द्रियां अचेतन हैं, प्राण—ऊर्जा का योग पाकर वे सभी सचेतन हो जाते हैं। हम जितना गहरा श्वास लेते हैं, उतनी ही अधिक प्राण—शक्ति प्राप्त होती है। जब हम श्वास—प्रेक्षा द्वारा श्वास—दर्शन करते हैं तब प्राण—शक्ति और बढ़ जाती है। जो यौगिक प्रदर्शन आज देखने में आते हैं वे सारे श्वास के स्तर पर घटित होने वाले प्राणशक्ति के प्रदर्शन हैं। इसके आधार पर मोटर या ट्रक को छाती पर से निकाला जा सकता है। आत्मा में अनंत शक्ति है, अनन्त वीर्य है। श्वास उस अनंत शक्ति का अंश है, इसलिए श्वास के प्रयोग से चमत्कार किये जा सकते हैं। हम अपनी चेतना को जागृत करना चाहते हैं, अपनी शक्ति के स्रोतों को उद्घाटित करना चाहते हैं। सूक्ष्म से परिचित होना चाहते हैं। यदि हमें सूक्ष्म से परिचित होना है तो सबसे पहले हम स्थूल को सम्यक् प्रकार से जानें। बाहर का दरवाजा खोले बिना भीतर के दरवाजे तक नहीं पहुंचा जा सकता। हमें स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति करनी होगी। ध्यान में श्वास का आलम्बन लेते हैं। इससे स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति प्रारम्भ हो जाती है। श्वास ही एक ऐसा तत्त्व है जो बाहर भी आता है और भीतर भी जाता है। दूसरा ऐसा कोई भी साधन नहीं है जो बाहर भी रहे और भीतर भी रहे। मन है पर मन बेढंगा है। वह स्वयं इतना चंचल है कि उसे आलंबन नहीं बनाया जा सकता। उसे तो आलम्बन देना पड़ेगा।

योग के आचार्यों ने मन को वश में करने का एक उपाय बताया है। वह उपाय है— श्वास को पकड़ते ही मन पकड़ में आ जाता है। तब मन इतना सरल, सीधा हो जाता है कि उसकी चंचलता मिट जाती है। इसलिए हमने ध्यान की प्रक्रिया में श्वास को आलंबन बनाया है। यह श्वास वह यात्री है जो बाहर की यात्रा भी करता है और भीतर की यात्रा भी करता है। यह वह दीप है जो भीतर को भी प्रकाशित करता है और बाहर को भी प्रकाशित करता है। जो भीतर की भी यात्रा करना चाहें तो हमारे पास एकमात्र उपाय है कि हम मन को श्वास के रथ पर चढ़ा दें और उसके साथ—साथ भीतर चले जाएँ। हमारी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो जाएगी, हम अन्तर्मुखी हो जाएँगे, हम आध्यात्मिक बन जाएँगे। आध्यात्मिक बनने का सरल उपाय है—श्वास के साथ मन को जोड़ देना, दोनों का योग कर देना।

2.4.3 श्वास के आलम्बन का महत्त्व

प्रश्न हो सकता है कि श्वास को आलम्बन क्यों बनाया जाए? श्वास—क्रिया के विशिष्ट स्वरूप को हम वैज्ञानिक धारणाओं के आधार पर समझ सकते हैं। हमारे शरीर के भीतर चलने वाले तंत्रों और क्रियाओं का नियंत्रण दो प्रकार से होता है—

1. ऐच्छिक रूप से (Voluntarily), 2. स्वतः संचालित रूप से (Autonomically)।

हाथ—पैर आदि का संचालन, मांसपेशियों का आकुंचन—विकुंचन आदि क्रियाएँ स्वतः संचालित न होकर ऐच्छिक रूप से नियंत्रित की जाती हैं। दूसरी ओर पाचन (Digestion), रक्त—संचार (Blood circulation), हृदय की धड़कन (Heart-rate) आदि क्रियाएँ ऐच्छिक न होकर स्वतः संचालित होती हैं। श्वसन (Respiration) एक ऐसी क्रिया है जिसका नियंत्रण स्वतः संचालित रूप से भी होता है और ऐच्छिक रूप से भी। दूसरे शब्दों में कहें तो एक श्वास ही ऐसी क्रिया है जो जाने—अनजाने हमें संभालती है।

जब हम ऐच्छिक नियंत्रण की बात करते हो तो उसका तात्पर्य होता है—चित्त को श्वसन—क्रिया के साथ जोड़ना। जब चित्त श्वसन—क्रिया के साथ जुड़ जाता है तब वह श्वास को पकड़ने में यानी उसकी

अनुभूति करने में सक्षम बनता है। यही प्रक्रिया है—मन को एकाग्र या स्थिर करने की—उसकी चंचलता को मिटाने की। इस क्रम से प्रशिक्षित किए जाने पर मन स्थूल से सूक्ष्म को पकड़ने में भी सक्षम होता है। हम इस बात को न सोचें कि हम मन को मिटा दें। मन को मिटाना असम्भव तो नहीं पर बहुत मुश्किल है किन्तु नाना प्रकार के आलम्बनों में भटकने वाले मन के उस भटकाव को मिटा दें, एक ही आलम्बन में लम्बे समय तक वह स्थिर रह सके ऐसा प्रयत्न करें, इसीलिए श्वास को हमने चुना है। वह एक ऐसा आलम्बन है जो सहज है—बाहर से लाना नहीं पड़ता। जब चाहें तब उसे आलम्बन बना सकते हैं। वह न भूतकाल की स्मृति है, न भविष्य की कल्पना है अपितु वर्तमान की वास्तविकता है। जब चित्त श्वास पर केन्द्रित होता है तो हमें वर्तमान में जीने का अवसर प्राप्त होता है। वह एक शुद्ध और पवित्र आलम्बन है। उसके प्रति हमारा कोई राग—द्वेष हो ही नहीं सकता।

2.4.4 दीर्घ श्वास

श्वास दो प्रकार का होता है—सहज और प्रयत्न—जनित। प्रयत्न के द्वारा श्वास में परिवर्तन किया जा सकता है—छोटे श्वास को दीर्घ बनाया जा सकता हैं साधना को विकसित करने के लिए प्राण—शक्ति की प्रचुरता अपेक्षित होती है। प्राण—शक्ति के लिए श्वास का ईंधन चाहिए। श्वस का ईंधन जितना सशक्त होगा, प्राण—शक्ति उतनी ही सशक्त होगी और प्राण—शक्ति जितनी सशक्त होगी, हमारी साधना उतनी ही सफल होगी। श्वास को सशक्त बनाने के लिए ही हम उसे 'दीर्घ' बनाते हैं।

सामान्यतः व्यक्ति एक मिनट में 15—17 श्वास लेता है। इसके आस—पास दो स्थितियाँ बनती हैं। एक स्थिति—श्वास की संख्या को बढ़ाने की और दूसरी स्थिति है श्वास की संख्या को घटाने की। दूसरे शब्दों में एक स्थिति है श्वास को छोटा करने की और दूसरी स्थिति है श्वास को लम्बा करने की। ये दो स्थितियाँ बनती हैं। जो व्यक्ति साधना—रत नहीं हो, जो बहुत आवेगशील हो वे व्यक्ति उस दिशा में प्रस्थान करते हैं कि श्वास छोटा हो जाता है और उनकी संख्या बढ़ जाती है। 15—17 की संख्या 30—40, 50—60 तक बढ़ जाती है। आवेश में, कषाय में, वासना—तृप्ति में श्वास की संख्या बढ़ जाती है। श्वास की संख्या बढ़ती है, श्वास छोटा होता है और साथ—साथ प्राण—शक्ति पर उसका प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर भी उसका असर होता है किन्तु प्रेक्षाध्यान की साधना करने वाला व्यक्ति श्वास की गति व्यवस्थित करता है। यह श्वास की लम्बाई को बढ़ाता है। श्वास मंद हो, श्वास दीर्घ हो, श्वास लम्बा हो—यह साधक का प्रथम प्रयास होता है। फलस्वरूप श्वास की संख्या घटती है, लम्बाई बढ़ती है, मन शान्त होता है। इनके साथ—साथ आवेश शात होते हो तथा उत्तेजनाएँ और वासनाएँ शांत होती हैं।

श्वास और संवेग

क्र.सं.	तथ्य	औसतन श्वास की संख्या (प्रति मिनट)
1.	वासना के आवेग में	60—70
2.	क्रोध, भय आदि उत्तेजना	40—60
3.	नींद में	25—30
4.	बोलते समय	20—25
5.	चलते समय	18—20
6.	बैठे—बैठे	15—17
7.	सामान्य दीर्घश्वास	8—10
8.	दीर्घश्वास—पर्याप्त अभ्यास के बाद	4—6
9.	लम्बे नियमित अभ्यास	1—3

2.4.5 श्वास और संवेग

श्वास जब छोटा होता है तब वासनाएँ उभरती हैं, उत्तेजनाएँ आती हैं, कषाय जागृत होते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जब ये उभरते हो तब श्वास छोटा हो जाता है। इन सबसे श्वास प्रभावित होता है। इन सब दोषों का वाहन है–श्वास। ये श्वास पर आरोहण करके आते हैं। जब कभी मालूम पड़े कि उत्तेजना आने वाली है तब तत्काल श्वास को लम्बा कर दें, दीर्घश्वास लेने लग जाएँ, आने वाली उत्तेजना लौट जाएगी। इसका कारण है कि श्वास का वाहन उसे उपलब्ध नहीं हो पाया है। बिना आलम्बन के उत्तेजना या वासना प्रकट नहीं हो सकती। ध्यान की साधना करने वाला साधक मन की सूक्ष्मता को पकड़ने में अभ्यस्त हो जाता है। वह जान लेता है कि मस्तिष्क के अमुक केन्द्र में कोई वृत्ति उभर रही है। वह तत्काल दीर्घ–श्वास का प्रयोग प्रारम्भ कर देता है। उभरने वाली वृत्ति तत्काल शांत हो जाती है। साधक उन वृत्तियों का, उत्तेजना का शिकार नहीं होता।

साधक को सबसे पहला परिवर्तन जो करना होता है वह है श्वास की गति का परिवर्तन। जो इसके मूल्य को नहीं जानता, वह सच्चाई को नहीं पकड़ सकता। जो साधक दीर्घश्वास को केवल प्राणायाम के रूप में ही स्वीकार करता है, वह अपने स्वास्थ्य तक सीमित लाभ तो उठा सकता है किन्तु वह दीर्घश्वास–प्रेक्षा से होने वाले आंतरिक परिवर्तनों के लाभ से वंचित रह जाता है। हम यह स्पष्ट मानें कि दीर्घश्वास केवल प्राणायाम ही नहीं है, वह उससे आगे भी है। हम दीर्घश्वास को प्राणायाम की दृष्टि से नहीं ले रहे हैं। उसका मूल उपयोग है–वृत्तियों का शमन, उत्तेजनाओं का शमन और वासनाओं का शमन। इसके साथ–साथ शारीरिक और मानसिक लाभ भी होते हैं। जब गति में मंदता लाने का अभ्यास और आगे बढ़ता है तो साधक को अनुभव होता है कि बहुत लंबे समय तक श्वास लिए बिना रहा जा सकता है, श्वास की तरंग का निरोध किया जा सकता है। 'महाप्राण–ध्यान' की साधना आदि अनेक प्रकार की समाधियों में साधक श्वास का निरोध कर श्वासहीन स्थिति में जा सकता है।

श्वास बहुत ही मूल्यवान है, इसे छोटा न समझा जाए। यदि यह छोटी–सी बात भी समझ में आ जाती है तो साधना की बड़ी–बड़ी बातें स्वतः समझ में आ जाएँगी। मनुष्य की कठिनाई यह है कि वह सदा ध्वजा को देखता है, नींव को नहीं देखता। अध्यात्म की साधना में श्वास को देखना नींव को देखना है। श्वास–प्रेक्षा नींव का पत्थर है क्योंकि इसी पर साधना का महल खड़ा किया जा सकता है। श्वास के द्वार को खोले बिना अगले द्वारों का उद्घाटन हो नहीं सकता।

बोध–प्रश्न

1. ज्ञाता–द्रष्टा भाव को विकसित करने का सक्षम उपाय क्या है?
2. वैज्ञानिक–दृष्टि से पूर्ण श्वसन क्या है?
3. श्वसन–क्रिया में उपयोगी मांसपेशी कौन–सी है?
4. लम्बे नियमित अभ्यास से प्रतिमिनट श्वास की औसतन संख्या कितनी होती है?
5. सूर्य–चक्र कब सक्रिय होता है?

2.5 श्वास–प्रेक्षा : प्रकार

चेतना को शरीर में अभिव्यक्त करने का माध्यम है–श्वास। चित्त की व्यग्रता में श्वास चंचल और एकाग्रता में शांत होने लगता है। श्वास और मन का भावनात्मक ऐक्य है जिससे दोनों एक–दूसरे को प्रभावित करते हो। योग के ग्रंथों में योगी का पहला विश्लेषण श्वास विजेता ही बताया गया है।

श्वास–प्रेक्षा में श्वास का नियमन, मंदीकरण तथा सूक्ष्मता का अभ्यास किया जाता है जिससे साधना की उच्च भूमिकाओं में जाने का प्रवेश द्वारा उद्घाटित हो जाता है।

श्वास–प्रेक्षा का तात्पर्य है–चित्त श्वास को ही देखता रहे अथवा चित्त और श्वास दोनों साथ–साथ चलें।

श्वास–प्रेक्षा के दो प्रकार हैं– 1. दीर्घश्वास–प्रेक्षा, 2. समवृत्ति श्वास–प्रेक्षा।

2.5.1 दीर्घश्वास–प्रेक्षा

दीर्घश्वास में जब तनुपट का संकोच–विस्तार होता है तो नाभि के आस–पास का उदर का भाग प्रकम्पित होता है। यह प्रकम्पन एक वास्तविक वर्तमान कालिक घटना है जिसे अनुभव किया जा सकता है, देखा जा सकता है।

जानना और देखना चेतना का लक्षण है। जानने और देखने की क्षमता को विकसित करने का सूत्र है– जानो और देखो। भगवान् महावीर की साधना में जानो और देखो–यह मुख्य सूत्र है। ''आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो'' यह अध्यात्म चेतना के जागरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इस सूत्र के अभ्यास का प्रारंभ हम शरीर से कर सकते हैं। श्वास शरीर का ही एक अंग है, इसलिए सर्वप्रथम श्वास को देखें। शरीर के भीतर होने वाले स्पंदनों, कम्पनों या घटनाओं को देखें। इन्हें देखने के अनवरत अभ्यास से मन पटु हो जाता है, फिर अनेक सूक्ष्म स्पन्दन दिखने लग जाते हैं।

चित्त की दो धाराएँ हैं– विचार और दर्शन या देखना और सोचना किंतु ये दो धाराएँ एक साथ नहीं चलतीं। अर्थात् जब हम देखते हैं तो सोचते नहीं और जब हम सोचते हैं तो देखते नहीं। इस प्रकार देखना–स्मृति, चिंतन और कल्पना के चक्रव्यूह को तोड़ने का एक सशक्त साधन बन जाता है। स्थिर होकर श्वास को देखें तो विचार को स्थगित और विकल्प को शून्य बना सकते हैं। जब हम चित्त को बाह्य संवेदनों या घटनाओं से हटाकर इस आंतरिक घटना पर एकाग्र करते हैं तो यह 'ध्यान' हो जाता है जिसे दीर्घश्वास प्रेक्षा कहते हो। इसमें श्वास की गति मंद या शांत होती है और शरीर तनाव रहित होता है।

दीर्घश्वास–प्रेक्षा में श्वास की समस्त पर्यायों को देखने का प्रयत्न किया जाता है। दोनों नथुनों के संधि–स्थान में चित्त को स्थापित कर आते–जाते श्वास का अनुभव किया जाता है, दोनों नथुने श्वास के भीतर प्रवेश करने और बाहर जाने के द्वार हैं, वहाँ श्वास का स्पर्श अनुभव किया जाता है। इससे आगे चित्त के द्वारा श्वास के पथ को देखा जाता है; उसकी मात्रा और गति को जाना जाता है। यह सारी वर्तमान की वास्तविक घटना है जिस पर चित्त एकाग्र किया जा सकता है। प्रायः बाहर की हवा ठंडी और उच्छ्वास की हवा गर्म होती है। अतः प्रवेश करते समय ठंडा स्पर्श और बाहर निकलते समय गर्म स्पर्श का अनुभव होता है।

2.5.2 समवृत्ति श्वास–प्रेक्षा

जैसे दीर्घश्वास में श्वास की गति को परिवर्तित किया जाता है वैसे समवृत्ति श्वास में उसकी दिशा को बदला जाता है। एक नथुने से श्वास भीतर लेकर दूसरे नथुने से बाहर निकाला जाता है तथा फिर उसी से भीतर लेकर पहले नथुने से बाहर निकाला जाता है। यह परिवर्तन संकल्प–शक्ति के द्वारा निष्पन्न हो सकता है। इस दौरान लगातार चित्त–श्वास के साथ–साथ चलता है, उसकी प्रेक्षा करता है। यही समवृत्ति श्वास–प्रेक्षा है।

दाएँ नथुने से श्वास लेने से सूर्यस्वर सक्रिय होता है। इसका संबंध पिंगला नाड़ी के साथ है। बाएं नथुने से चंद्रस्वर चलता है जो इड़ा नाड़ी की सक्रियता से संबंधित है। समवृत्ति श्वास–प्रेक्षा में नाड़ी–संस्थान का शोधन होता है, ज्ञान शक्ति विकसित होती है और अतीन्द्रिय–ज्ञान की संभावनाओं का द्वार खुलता है।

समवृत्ति श्वास प्रेक्षा मैत्री का प्रयोग है। हम इस बात का प्रयोग कर रहे हैं कि जो ठंडा है, वह भी आवश्यक है और जो गर्म है, वह भी आवश्यक है। दोनों परस्पर विरोधी होते हुए भी शत्रु नहीं हैं। दोनों हमारे जीवन के लिए अत्यंत उपयोगी हैं।

दीर्घश्वास–प्रेक्षा और समवृत्ति श्वास–प्रेक्षा के समय श्वास को लयबद्ध या ताल–बद्ध बनााय जाता है। इसके साथ श्वास को भीतर लेकर भीतर रोकना तथा बाहर रोकना, कुम्भक कहलाता है। इस प्रकार का प्रयोग केवल उतने समय तक किया जाना चाहिए जिससे कि वैसा करने में कठिनाई न हो। आसानी से करते हुए श्वास–संयम को क्रमशः साधा जा सकता है।

2.6 श्वासप्रेक्षा की निष्पत्तियां

श्वासप्रेक्षा की निष्पत्तियां निम्न हैं–

2.6.1 चित्त की प्रसन्नता

प्रेक्षाध्यान–साधना की अनेक प्रकार की निष्पत्तियां हैं। वे निष्पत्तियां मानसिक भी हैं और शारीरिक भी। ध्यान सिद्ध होने का सबसे पहला प्रमाण है– चित्त की प्रसन्नता। जैसे–जैसे ध्यान सिद्ध होने लगता है, प्रसन्नता बढ़ती जाती है। हर्ष और शोक एक द्वन्द्व है। ध्यान की आराधना के द्वारा जो प्राप्त होता है, वह है– चित्त की प्रसन्नता– न हर्ष, न शोक।

2.6.2 मानसिक एकाग्रता

श्वास प्रेक्षा मानसिक एकाग्रता का महत्त्वपूर्ण आलम्बन है। उससे रक्त को बल मिलता है, शक्ति के केन्द्र जागृत होते हैं, तैजस् शक्ति जागृत होती है, सुषुम्ना और नाड़ी–संस्थान प्रभावित होते हैं। हमारे क्रियात्मक और व्यावसायिक क्षेत्र में मानसिक एकाग्रता बहुत मूल्यवान् है। किसी भी कार्यक्षमता का आधार मानसिक एकाग्रता है। डॉक्टर, वकील, प्रोफेसर, कर्मचारी हो या किसी बड़े संस्थान का प्रबंध–निदेशक (मैनेजिंग डायरेक्टर) हो या सामान्य गृह–कार्य में रत गृहिणी हो– सबको अपने–अपने कार्य करने में मानसिक एकाग्रता अत्यन्त अपेक्षित है। किसी भी कार्य में जब तक चित्त एकाग्र या तन्मय नहीं होगा, तब तक उत्पादन–क्षमता (वचमतंजपवदंस मििपबपमदबल) का स्तर अत्यंत निम्न होगा–क्षमता का उपयोग 20 प्रतिशत और शक्ति का अनावश्यक व्यय 80 प्रतिशत होगा किन्तु जब किसी भी कार्य में चित्त की तन्मयता होगी तब क्षमता 80 प्रतिशत व अनावश्यक व्यय 20 प्रतिशत हो जाएगा अर्थात् ठीक पहले के विपरीत।

श्वास प्रेक्षा का प्रयोग चित्त की एकाग्रता को, तन्मयता को बढ़ाने का सरल किन्तु सक्षम उपाय है। जैसे श्वास केवल वर्तमान की क्रिया है–न अतीत की स्मृति, न भविष्य की कल्पना और साधक उसी को देखने में तन्मय हो जाता है, वैसे ही व्यावसायिक क्षेत्र में भी दूसरे अनेक कार्यों को छोड़कर केवल वर्तमान के काम पर पूरा ध्यान देना ओर वैसा करने की आदत डालना, यह मानसिक एकाग्रता का प्रशिक्षण है। औद्योगिक, वाणिज्यिक और व्यापारिक क्षेत्र के बड़े संस्थान अपने वरिष्ठ प्रबंधकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए उनके प्रशिक्षण में प्रतिवर्ष लाखों रुपये खर्च करते हैं। प्रशिक्षण देने वाले संस्थान बहुधा सेमीनार के रूप में यह कार्यक्रम चलाते हैं किन्तु वस्तुतः कार्यक्षमता का विकास करने का मूल है मानसिक एकाग्रता का प्रयोग और उसे प्राप्त करने का साधन है– श्वास प्रेक्षा।

2.6.3 जागरूकता

श्वास प्रेक्षा जागरूकता का अचूक उपाय है। इसमें हम भीतर जाने वाले और बाहर निकलने वाले श्वास को देखते हैं। दरवाजे पर खड़ा प्रहरी (चित्त) यदि जागरूक न हो तो कोई भी भीतर जा सकता है, कोई भी बाहर आ सकता है। फिर प्रहरी होने का कोई अर्थ ही नहीं है। आते–जाते को देखते–देखते चित्त जागरूक हो जाता है, फिर एक ही श्वास उससे बचकर निकल नहीं पाता, प्रत्येक श्वास को वह देख ही लेता है। श्वास और चित्त साथ–साथ चलें, सहयात्री रहें। दो साथी साथ में चलें और एक ऊंघता चले यह हो नहीं सकता। नींद आते ही साथ छूट जायेगा। श्वास का क्षेत्र सीमित है, चित्त का क्षेत्र असीमित। चित्त का काम यह नहीं कि वह श्वास की सीमा में चले, श्वास के साथ ही रहे। श्वास की यात्रा छोटी है, उसका यात्रापथ नथुने से फेफड़े तक बहुत संकीर्ण और छोटा है किन्तु चित्त का मार्ग बहुत लम्बा–चौड़ा है, बहुत दीर्घ है। वह एक क्षण में सारी दुनिया का चक्कर लगा सकता है। इतनी विशाल यात्रा करने वाले और इतनी तीव्र गति से चलने वाले चित्त को श्वास जैसे छोटे यात्री के साथ जोड़े रखना कठिन काम है किन्तु

यह किया जा सकता है। ऐसा करने पर ही चित्त जागरूक हो जाता है, फिर वह कभी नहीं सोता; वह श्वास का साथी बन जाता है।

2.6.4 समभाव

श्वास वास्तविक है, इसलिए वह सत्य है–वर्तमान की घटना है। इस संदर्भ में श्वास–प्रेक्षा का अर्थ है– सत्य को देखना, वर्तमान में जीने का अभ्यास करना। श्वास एक घटना है। यह वर्तमान की घटना है, अतीत या भविष्य की नहीं। जिस क्षण में हम श्वास लेते हैं, उसी क्षण में हम उसे देख रहे हैं। यह वर्तमान का क्षण है। यह है–वर्तमान में जीने का अभ्यास, वर्तमान में रहने का अभ्यास। जब हम वर्तमान में हो, उसे देख रहे हैं, उस समय न कोई राग है, न कोई द्वेष है क्योंकि जब स्मृति या कल्पना नहीं है तो राग भी नहीं है और द्वेष भी नहीं है। हम स्मृति और कल्पना से मुक्त तथा राग–द्वेष से मुक्त क्षण में जी रहे हैं। यह है शुद्ध चेतना का क्षण–यहां न प्रियता है और न अप्रियता, न कोई अतीत का अनुभव है और न कोई भविष्य की चिंता।

श्वास को देखने का अर्थ है– समभाव में जीना, वर्तमान में जीना। वर्तमान में जीने का अर्थ है– मन को विश्राम देना, भार से मुक्त होना, मानसिक तनाव से छुटकारा पाना, वीतरागता के क्षण में जीना, राग–द्वेष मुक्त क्षण में जीना। जो व्यक्ति श्वास को देखता है उसका तनाव अपने आप विसर्जित हो जाता है।

2.6.5 शक्ति–जागरण

हम दीर्घश्वास लेते हो, दीर्घ–श्वास की प्रेक्षा करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम शक्ति के मूल स्रोतों को जागृत करने का प्रयत्न करते हैं। दीर्घ श्वास को देखने की बात बहुत छोटी–सी लगती है किन्तु यह बहुत गहरी बात है। एक अंगुली को पकड़कर समूचे घर के मालिक बन जाने की बात है। हम इस प्रक्रिया में केवल प्राण को नहीं पकड़ रहे हैं वरन् समूची प्राण–शक्ति को जागृत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। जैसे–जैसे हम श्वास को दीर्घ करते हैं, हम पूरी ऊर्जा को खींचते हैं और उसे देखते हैं तो शक्ति के मूल स्रोत को जागृत कर लेते हैं जिसके विस्फोट के द्वारा हमें नई–नई शक्तियां उपलब्ध होती हैं। नई दिशाओं के उद्घाटन के लिए श्वास–प्रेक्षा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार श्वास–प्रेक्षा की चर्चा करने के पश्चात् इसे विभिन्न दृष्टियों से समझना स्वतः सरल हो जाता है। अतः श्वास–प्रेक्षा जीवन में अनेक संदर्भों में उपयोगी सिद्ध होती है। जिज्ञासु व्यक्ति इसका प्रयोग अपने जीवन में अपनी आवश्यकतानुसार कर सकता है।

बोध प्रश्न

1. वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

1. चेतना का मूल धर्म क्या है?
2. हृदय का क्या दायित्व है?
3. ऊर्जा के आहरण का माध्यम क्या है?
4. श्वास में दो प्रकार कौन से हैं?
5. मानसिक एकाग्रता का महत्त्वपूर्ण आलंबन क्या है?

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. श्वास के प्रकारों को समझाइए।
2. श्वास प्रेक्षा की निष्पत्तियां बताइये।

3. निबंधात्मक प्रश्न–

1. श्वास प्रेक्षा के वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक पक्ष को समझाइए।

ज्योति केन्द्र प्रेक्षा

ज्योतिकेन्द्र प्रेक्षा का अर्थ है ज्योति केन्द्र को देखना अर्थात् ज्योति केन्द्र पर ध्यान करना। ज्योति केन्द्र का स्थान शरीर में ललाट के मध्य भाग में है। विज्ञान के अनुसार यह पीनियल ग्रंथि का स्थान है। प्रेक्षाध्यान के अंतर्गत यह एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है जो संवेग नियंत्रण में उपयोगी है। ज्योति केन्द्र प्रेक्षा लेश्याध्यान का ही एक भाग है जो भाव शुद्धि का प्रयोग है, संवेग नियंत्रण करने का प्रयोग है। अतः नकारात्मक संवेगों को दूर कर सकारात्मक संवेगों के विकास में इसका महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस केन्द्र पर श्वेत रंग का ध्यान किया जता है। श्वेत रंग शुद्धता का प्रतीक है, शीतलता का प्रतीक है, शांति का प्रतीक है। अतः श्वेत रंग का ध्यान और उसके साथ सकारात्मक भावना करने से व्यक्तित्व को निखारा जा सकता है।

चूंकि ज्योति केंद्र प्रेक्षा का संबंध भावों से है, संवेगों से है। इसीलिए इस प्रयोग के द्वारा भाव और संवेगों को शुद्ध बनाया जा सकता है, नियंत्रित किया जा सकता है, संतुलित किया जा सकता है। संवेग भावों की व्यक्त दशा है। इसमें कुछ समय के लिए व्यवहार अव्यस्थित हो जाता है। साम्यावस्था की स्थिति गड़बड़ा जाती है अर्थात् असंतुलित हो जाती है। संवेग सकारात्मक तथा नकारात्मक दो प्रकार के होते हैं। सकारात्मक संवेग के अंतर्गत हंसना, परोपकार की भावना, उत्साह, कर्तव्यनिष्ठा आदि तथा नकारात्मक संवेगों में क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, तनाव, कुंठा, रोना, चिल्लाना आदि हैं। इन दोनों ही अवस्थाओं में शारीरिक स्थिति में परिवर्तन हो जाता है। इन संवेगों का संबंध रसायनों से भी है। स्वास्थ्य के लिए सकारात्मक नहीं अपितु नकारात्मक संवेग हानिकारक हैं। सकारात्मक संवेग सकारात्मक स्रावों को, प्रसन्नता प्रदान करने वाले स्रावों को स्रावित करते हैं और नकारात्मक संवेग नकारात्मक स्रावों को स्रावित करते हैं। यदि भाव शुद्ध नहीं है, रसायन अव्यवस्थित हों और यह स्थिति बार–बार बनती रहे तो स्वास्थ्य के लिए लिए यह हितकर नहीं है। इससे शरीर तथा मन पर भी नकारात्मक प्रभाव पड़ता है फलतः स्वास्थ्य गड़बड़ा जाता है। स्वास्थ्य के गड़बड़ाने से व्यवहार पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। यह स्थिति अच्छी नहीं है। अतः आवश्यक है कि सकारात्मक भावों के द्वारा सकारात्मक स्रावों को स्रावित किया जाए अथवा सकारात्मक स्रावों के द्वारा सकारात्मक भावों को उत्पन्न किया जाए। परिणाम दोनों ही तरफ से सकारात्मक होंगे। तब स्वास्थ्य सकारात्मक हो सकेगा, व्यवहार शुद्ध हो सकेगा। ज्योति केंद्र प्रेक्षा इस हेतु उपयोगी है।

बोध प्रश्न

1. ज्योति केन्द्र प्रेक्षा क्या है?
2. ज्योति केन्द्र का स्थान कहाँ है?
3. ज्योति केन्द्र प्रेक्षा किस–किस शुद्धि के लिए किया जाता है?
4. शांति का प्रतिक कौन–सा रंग है ?
5. ज्योति केन्द्र प्रेक्षा से किसका नियंत्रण होता है ?

इकाई – 3

प्रेक्षाध्यान के घटक एवं लाभ

रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 भूमिका

3.2 प्रेक्षाध्यान के अंग

3.2.1 सहायक अंग

3.2.2 प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग

3.2.3 विशिष्ट अंग

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से प्रेक्षाध्यान के विविध अंगों का ज्ञान होगा। इससे इन अंगों को साधने के अभ्यास पर प्रकाश डाला जाएगा।

3.1 भूमिका

प्रेक्षाध्यान अपने आपको देखने एवं जानने का एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। इसमें शरीर के विविध अंगों के आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक रहस्य को समझकर उनको नियंत्रित करने का प्रयत्न होता है। शरीर, श्वांस, प्राण, इन्द्रिय आदि ऐसे शरीर से जुड़े हुए हैं जिनका ज्ञान करके उनको नियंत्रित करने का प्रयास प्रेक्षाध्यान के माध्यम से होता है। इसके लिए अभ्यास की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जिस पर यहां प्रकाश डाला जायेगा।

3.2 प्रेक्षाध्यान के अंग

प्रेक्षाध्यान के अंगों को तीन भागों में बांटा गया है–

3.2.1 सहायक अंग–1. आसन, 2. प्राणायाम, 3. मुद्रा, 4. ध्वनि

3.2.2 मुख्य अंग–1. कायोत्सर्ग, 2. अन्तर्यात्रा, 3. श्वास प्रेक्षा, 4. शरीर प्रेक्षा, 5. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, 6. लेश्याध्यान, 7. अनुप्रेक्षा, 8. भावना।

3.2.3 विशिष्ट अंग–1. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा, 2. विचार प्रेक्षा, 3. अनिमेष प्रेक्षा।

3.2.1 सहायक अंग

प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग में निम्न हैं–

3.2.1.1 आसन

आसन के द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य के अतिरिक्त मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास भी प्राप्त होता है। आसन की स्थिरता पर ही ध्यान की सफलता छिपी रहती है क्योंकि ध्यान की गहराई में जाने के लिए सर्वप्रथम शारीरिक स्थिरता फिर मन की स्थिरता, फिर वाणी की स्थिरता आवश्यक है। शरीर जब स्थिर हो जाता है तब अन्य स्थिरता सधने लगती है। प्रेक्षाध्यान की साधना के लिए अन्य आसनों के साथ–साथ ध्यान आसनों की सिद्धि आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान की साधना में मुख्य रूप से सुखासन, वज्रासन,

अर्धपद्मासन एवं पद्मासन का प्रयोग अधिकांशतः किया जाता है। साधकों को कम से कम एक मुहूर्त (48 मिनट) तक किसी भी एक आसन में स्थिरता से रहने की योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए क्योंकि ध्यान की गहराई में जाने के लिए यह आवश्यक है।

3.2.1.2 प्राणायाम

श्वास पर नियंत्रण किये बिना वृत्तियों एवं भावों का परिष्कार असंभव है। हमारी निषेधात्मक एवं सकारात्मक दोनों ही प्रकार की वृत्तियों का सम्बन्ध श्वास के साथ है। प्रेक्षाध्यान में दीर्घश्वास प्रेक्षा एवं समवृत्ति श्वास प्रेक्षा श्वास नियंत्रण के दो महत्वपूर्ण प्रयोग हो। प्रेक्षाध्यान में प्राणायाम का बहुत महत्व है क्योंकि प्राण के सही संचार से वात, पित्त व कफ दोष कुपित नहीं होते हैं। ध्यान के लिए इनका संतुलित होना आवश्यक होता है। इससे ध्यानकाल में शीत, ऊष्ण, क्षुधा, पिपासा, सहने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। अर्थात् ठंडा, गर्म, भूख तथा प्यास को सहन करने की क्षमता का विकास होता है।

3.2.1.3 मुद्रा

मुद्रा शरीर की एक ऐसी स्थिति है जो उठने, बैठने लेटने अथवा खड़े होने के ढंग के रूप में देखी जा सकती है। यह सकारात्मक तथा निषेधात्मक दोनों ही प्रकार ही होती है। इसका सीधा संबंध भावों से माना जाता है। उदाहरणार्थ प्रसन्नता की स्थिति में व्यक्ति के हावभाव अथवा चेहरे से ज्ञात हो जाता है। इसके विपरीत दुःख की स्थिति में व्यक्ति का चेहरा उदास होता है या व्यक्ति सिर पर हाथ रखता है। इसके अतिरिक्त भी व्यक्ति अनेक तरह की मुद्राएँ बनाता है जिससे उसकी भीतरी स्थिति का पता लग जाता है। अतः ध्यान–योग में सकारात्मक मुद्राओं के द्वारा नकारात्मक भावों को बदला जा सकता है। कहा जाता है जैसे भाव वैसी मुद्रा, जैसी मुद्रा वैसे भाव। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। अतः भाव परिवर्तन के लिए विधेयात्मक मुद्रा आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान भाव परिवर्तन की प्रक्रिया है। निषेधात्मक भावों को समाप्त कर विधेयात्मक भावों का विकास करना चहुमुंखी विकास के लिए आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान में प्रयोग के समय मुख्य रूप से ज्ञानमुद्रा, वीतराग मुद्रा (ब्रह्म मुद्रा) का प्रयोग किया जाता है। इन मुद्राओं के प्रयोग से व्यक्ति को ध्यान की गहराई में जाने में सहायता मिलती है तथा आध्यात्मिक विकास होता है।

3.2.1.4 ध्वनि

प्रेक्षाध्यान में सभी प्रकार की ध्वनि एवं उसके महत्व को स्वीकार करता है लेकिन प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों में अधिकांशतः 'अर्हम्' ध्वनि एवं 'महाप्राण' ध्वनि का प्रयोग किया जाता है।

अर्हम् ध्वनि–अर्हम् जैन धर्म का मूल मंत्र है। इसकी ध्वनि से प्राण शक्ति सक्रिय होती है तथा व्यक्ति की सुषुप्त शक्तियां जाग्रत होती हैं। इस ध्वनि का उच्चारण विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है। जैसे–जप, लयबद्ध गायन एवं मंत्र शास्त्रीय दृष्टि से। मंत्र शास्त्रीय विधि से अर्हम् के उच्चारण की निम्न विधि है–

'अ' का उच्चारण करते समय चित्त नाभि पर केन्द्रित रखते हैं। समय दो सेकेण्ड का होता है। 'र्ह' का उच्चारण करते समय चित्त को आनन्द केन्द्र पर केन्द्रित करते हैं। इसमें समय चार सेकण्ड का होता है। 'म्' का उच्चारण करते समय चित्त विशुद्धि केन्द्र से ज्ञान केन्द्र तक ले जाते हैं। इसमें समय छः सैकण्ड का होता है। अंतिम नाद के समय चित्त को ज्ञान केन्द्र पर ही टिकाए रखते हैं जिसमें समय दो सेकण्ड का होता है। इस प्रकार कुल चौदह सेकण्ड में इस ध्वनि की एक आवृत्ति हो जाती है। अगली ध्वनि के लिए श्वास भरने में चार सैकण्ड का समय लेते हैं। तत्पश्चात् पुनः विधिवत् ध्वनि प्रारम्भ करते हैं।

महाप्राण ध्वनि–महाप्राण ध्वनि एक अद्भुत एवं विलक्षण ध्वनि है। अधिकांश मंत्रों के अंत में निकलने वाली नाद ध्वनि पर महाप्राण ध्वनि निर्मित है। इस ध्वनि को करते समय अपने चित्त को ज्ञान केन्द्र अर्थात् चोटी वाले स्थान पर केन्द्रित करते हो। महाप्राण ध्वनि के गुंजन से मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार का प्रकम्पन होता है जिससे न्यूरोन्स सक्रिय होते हैं। इस ध्वनि से शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक सभी प्रकार के लाभ प्राप्त होते हो। इस ध्वनि की एक आवृति का समय सोलह सेकेण्ड है। अगली ध्वनि के लिए

श्वास भरने में 4 सेकण्ड का समय निर्धारित है। भंवरे की गुंजन की भांति नाक से की जाने वाली यह ध्वनि अध्यात्म के गहराई में जाने का द्वार खोलती है।

3.2.2 प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग

प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंगों की जानकारी निम्न प्रकार हैं–

3.2.2.1 कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग शिथिलीकरण का प्रयोग है। अर्थात् यह तनाव–मुक्ति की प्रक्रिया है। कायात्सर्ग दो शब्दों से मिलकर बना है काया + उपसर्ग। काया अर्थात् शरीर और उत्सर्ग अर्थात् छोड़ना। इस प्रकार शब्द की दृष्टि से सामान्य अर्थ में कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर को छोड़ना। विशिष्ट अर्थों में कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर के ममत्व को छोड़ना। शरीर की आसक्ति को छोड़ना। शरीर की आसक्ति को छोड़े बिना कायोत्सर्ग की साधना संभव नहीं हो सकती है क्योंकि कायोत्सर्ग आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया है। अतः शरीर की आसक्ति अथवा ममत्व को छोड़े बिना आत्म साक्षात्कार संभव नहीं है। जब तक इस शरीर से मोह रहता है तब तक आत्मा के दर्शन संभव नहीं हो सकते हैं। जीवन जड़ और चेतन दो तत्त्वों से मिलकर बना है। शरीर जड़ है तो आत्मा चेतन है। इस चेतन तत्त्व के कारण ही शरीर क्रिया करता है। आत्मा का स्थान शरीर में है। अतः इस शरीर का आलंबन लेकर आत्म तत्त्व के दर्शन की प्रक्रिया कायोत्सर्ग में है। अतः शरीर की स्थिरता, शिथिलता एवं मानसिक एकाग्रता कायोत्सर्ग के लिए आवश्यक शर्त है। कायोत्सर्ग में शरीर के प्रत्येक अवयव पर चित्त को एकाग्र करते हैं तथा उस अवयव को शिथिलता का सुझाव देते हैं। इस प्रकार पैर के अंगुठे से लेकर सिर तक प्रत्येक अवयव को शिथिल करने का सुझाव दिया जाता है। शरीर की शिथिलता सधने से सारी चंचलता समाप्त हो जाती है। चंचलता के समाप्त होने पर आत्म दर्शन की प्रक्रिया आसान हो जाती है। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भी कायोत्सर्ग कई अर्थों में लाभदायक होता है। कायोत्सर्ग से शरीर की मांसपेशियां स्वस्थ रहती हैं। शरीर में विद्युत का प्रवाह समुचित मात्रा में होता है। शरीर के प्रत्येक अवयव को शिथिलता मिलने से वे और अधिक सक्रिय रहते हैं। अतः कायोत्सर्ग कई संदर्भों में लाभकारी सिद्ध होता है।

3.2.2.2 अतंर्यात्रा

अंतर्यात्रा का अर्थ है भीतर की यात्रा। इस प्रयोग में चित्त की यात्रा शक्ति केन्द्र से ज्ञान तक सुषुम्ना मार्ग में की जाती है। ऐसा माना जाता है कि शक्ति केन्द्र पर शक्ति सघन रूप से रहती है और वह सुप्त अवस्था में होती है। सुप्त अवस्था में पड़ी शक्ति का बहुत बड़ा उपयोग नहीं हो सकता है। अतः योगाचार्यों ने इस शक्ति के जागरण की प्रक्रिया भी स्पष्ट की है। अंतर्यात्रा के द्वारा इस सुप्त शक्ति का जागरण कर इसे ज्ञान केन्द्र पर स्थापित किया जाता है। ज्ञान केन्द्र का स्थान सिर में चोटी के स्थान पर है। मस्तिष्क अनेक क्रिया–कलापों के लिए जिम्मेदार है। अतः यहां पर स्थित शक्ति जीवन के अनेक आयामों को उद्घाटित कर सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह प्रयोग ऊर्जा के ऊर्ध्वारोहरण की प्रक्रिया है। साथ ही इस प्रयोग से इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों में भी संतुलन स्थापित किया जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से अनुकंपी तथा परानुकंपी तंत्र में संतुलन स्थापित किया जा सकता है।

3.2.2.3 श्वास प्रेक्षा

श्वास प्रेक्षा का अर्थ है– श्वास को देखना। इस प्रयोग में आते जाते श्वास की प्रेक्षा करते हैं। श्वास का आलंबन लेकर चित्त को कुशल तथा एकाग्र बनाया जा सकता है। चित्त की एकाग्रता सफलता का रहस्य है। श्वास पर नियंत्रण रखकर मन को भी नियंत्रित किया जा सकता है। श्वास और मन का सीधा संबंध है। श्वास छोटा होने पर मन चंचल हो जाता है तो मन की चंचलता बढ़ने से श्वास प्रभावित होता है। अतः श्वास प्रेक्षा कई संदर्भों में उपयोगी है। आध्यात्मिक दृष्टि से श्वास प्रेक्षा के द्वारा मानसिक एकाग्रता तो बढ़ती ही है साथ ही प्राण का अधिक ग्रहण होता है। इससे प्राण शक्ति मजबूत बनती है। वैज्ञानिक दृष्टि से श्वास प्रेक्षा के द्वारा अधिक आक्सीजन को ग्रहण किया जा सकता है तथा कार्बनडाइ आक्साइड को बाहर निकाला जा सकता है। आक्ससीजन की अधिक आपूर्ति होने से शरीर स्वस्थ रहता है,

मन प्रसन्न होता है तथा भावधारा निर्मल होती है। श्वास प्रेक्षा के दो प्रकार हैं– दीर्घ श्वास प्रेक्षा तथा समवृत्ति श्वास प्रेक्षा। दीर्घ श्वास में दीर्घ श्वास लिया व छोड़ा जाता है तथा समवृत्ति श्वास में दांए नथुने से श्वास लेकर बांए नथुने से छोड़ा जाता है और बांए नथुने से लेकर दांए नथुने से छोड़ा जाता है। यह प्रयोग कुंभक (श्वास को रोकना) के साथ भी किया जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से समवृत्ति श्वास प्रेक्षा से इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों में संतुलन तथा वैज्ञानिक दृष्टि से अनुकंपी तथा परानुकंपी तंत्र में संतुलन स्थापित किया जा सकता है।

3.2.2.4 शरीर प्रेक्षा

शरीर प्रेक्षा का अर्थ है शरीर को देखना। शरीर को देखने का तात्पर्य है कि शरीर को खुली आंखों से नहीं वरन् बंद आंखों से चित्त के द्वारा देखा जाता है। इस प्रयोग में चित्त को पैर के अंगुठे से लेकर सिर तक प्रत्येक अवयव पर केन्द्रित कर वहां अवयव पर होने वाले प्राण के प्रकंपनों का अनुभव किया जाता है। कहा जाता है कि चित्त और प्राण की यात्रा साथ–साथ चलती है। अतः शरीर में चित्त की यात्रा से प्राण संतुलन की प्रक्रिया सरल होती है। शरीर प्रेक्षा का प्रयोग भी प्राण संतुलन का ही प्रयोग है। शरीर में प्राण भिन्न–भिन्न स्थानों में भिन्न–भिन्न कार्यों के लिए जिम्मेदार होता है। प्राण के पांच मुख्य प्रकार हैं–प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। ऐसा भी माना है कि जब शरीर में प्राण का असंतुलन होता है तो शरीर में रोग उत्पन्न होता है तथा प्राण के संतुलन से शरीर विकार रहित होता है। अतः शरीर प्रेक्षा के द्वारा प्राण का संतुलन कर शरीर को स्वस्थ बनाया जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से शरीर प्रेक्षा के द्वारा रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति को विकसित किया जा सकता है। अर्थात् शरीर में रोगों को दूर करने की शक्ति विकसित होती है।

3.2.2.5 चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा

चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का अर्थ है चैतन्य केन्द्रों को देखना। चैतन्य केन्द्र वे केन्द्र हैं जिन पर चेतना सघन रूप से विद्यमान रहती है। यों तो पूरे शरीर में चेतना के कई केन्द्र हैं। आयुर्वेद, एक्यूपंचर आदि की दृष्टि से भी शरीर के अनेक भागों में एक दूसरे के संवेदी केन्द्र पाए जाते हैं। साधना की दृष्टि से भी शरीर में अनेक चेतना के केन्द्र हैं। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा के अंतरगत शरीर में 13 मुख्य चैतन्य केन्द्रों को माना गया है। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा में प्रत्येक चैतन्य केन्द्र पर चित्त को एकाग्र कर वहां पर होने प्राण के प्रकंपनों का अनुभव किया जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इन केन्द्रों पर ध्यान करने से सुप्त चेतना का जागरण होता है। चेतना विशुद्ध बनती है जिससे व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास तो होता है साथ ही अनेक प्रकार के विकारों का शमन होता है। भाव धारा निर्मल होती है। मन प्रसन्न होता ही है। वैज्ञाानिक दृष्टि से इन चैतन्य केन्द्रों में कुछ केन्द्रों का संबंध अंतःस्रवी ग्रंथियों से माना जाता है। अंतःस्रावी ग्रंथियों का संतुलन व्यक्तित्व तथा व्यवहार को नियंत्रित करने में अपना महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अतः इन केन्द्रों पर ध्यान करने से ग्रंथितंत्र के स्रावों का संतुलन होता है। ये केन्द्र निम्न हैं–

1. **शक्ति केन्द्र**–सुषुम्ना का अंतिम छोर
2. **स्वास्थ्य केन्द्र**–नाभि से चार अंगुल नीचे
3. **तैजस केन्द्र**–नाभि का स्थान
4. **आनंद केन्द्र**–दोनों फेफड़ों के मध्य का स्थान
5. **विशुद्धि केन्द्र**–कंठ का स्थान
6. **ब्रह्म केन्द्र**–जीभ का अग्र भाग
7. **प्राण केन्द्र**–नाक का अग्र भाग
8. **अप्रमाद केन्द्र**–कान के बाहर, भीतर तथा मध्य का भाग
9. **चाक्षुष केन्द्र**–दोनों आंखों के मध्य का भाग
10. **दर्शन केन्द्र**–दोनों भृकुटियों के मध्य का भाग
11. **ज्योति केन्द्र**–ललाट के मध्य का भाग
12. **शांति केन्द्र**–सिर का अग्र भाग (तालू का भाग)
13. **ज्ञान केन्द्र**–शीर्षस्थ भाग (चोटी का भाग)।

3.2.2.6 लेश्याध्यान

लेश्याध्यान रंगों का ध्यान है। माना जाता है कि जैसे लेश्या के रंग होते हो वैसे ही व्यक्ति का आभामंडल बनता है। लेश्या अच्छी तथा बुरी दोनों ही प्रकार की होती है। इसलिए आभामंडल भी अच्छा तथा बुरा दोनों ही प्रकार का होता है। आभामंडल शरीर के चारों ओर सूक्ष्म वलय होता है जिसे सामान्य आंखों से नहीं देखा जा सकता है। लेश्या ध्यान में रंगो के द्वारा बुरी लेश्या को अच्छी लेश्या में बदला जा सकता है जिससे आभामंडल भी शुद्ध हो जाता है। लेश्या ध्यान भाव शुद्धि का प्रयोग है। भाव ही व्यक्ति के व्यवहार का आदि स्रोत है। अतः भाव शुद्ध होने पर व्यवहार भी शुद्ध होता है। लेश्याध्यान के प्रयोग में संबंधित रंग को चमकता हुआ आभामंडल में काल्पनिक रूप से देखते हैं। तत्पश्चात् इसे श्वास के साथ शरीर के भीतर लेते हैं। जिस केन्द्र से रंग का संबंध होता है, उस केन्द्र से अमुक रंग के प्रकाश को आभामंडल में फैलता हुआ देखते हैं। इसके बाद भावना की जाती है। लेश्याध्यान में प्रमुख पांच केन्द्र तथा उनके पांच रंग निर्दिष्ट किए गए हैं आध्यात्मिक दृष्टि से लेश्याध्यान का प्रयोग भाव शुद्धि का प्रयोग है। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक रंग की अपनी तरंग दैर्घ्यता होती है तथा प्रत्येक रंग की अपनी प्रकृति होती है जो व्यक्तित्व प्रभावित करते हैं। रंग चिकित्सा में भी इन अंतःस्रावी ग्रंथियों का संबंध रंग से होता है जिससे अनेक प्रकार के रोगों का उपचार किया जा सकता है। अतः ग्रंथियों को भी रंगों के ध्यान द्वारा संतुलित किया जा सकता है। लेश्याध्यान के प्रमुख रंग तथा संबंधित केन्द्र (ग्रंथियां) निम्न प्रकार हैं–

रंग	केन्द्र (ग्रंथि)	भावना
हरा रंग	आनंद केन्द्र (थाइमस ग्रंथि)	भावधारा निर्मल हो रही है।
नीला रंग	विशुद्धि केन्द्र (थाइराइड ग्रंथि)	वासनाएँ अनुशासित हो रही हैं।
3. अरुण रंग	दर्शन केन्द्र (पिट्यूटरी ग्रंथि)	अंतर्दृष्टि जागृत हो रही है।
4. सफेद रंग	ज्योति केन्द्र (पीनियल ग्रंथि)	क्रोध शांत रहा है, आवेश–आवेग शांत हो रहे हैं।
5. पीला रंग	ज्ञान केन्द्र	ज्ञान तंतु विकसित हो रहे हैं, स्मृति का विकास हो रहा है।

3.2.2.7 अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा दो शब्दों से मिलकर बना है अनु + प्रेक्षा। अनु का अर्थ होता है बाद में, पीछे और प्रेक्षा का अर्थ है देखना। इस प्रकार का अनुप्रेक्षा का अर्थ प्रेक्षा के परिणामों पर विचार करना। प्रेक्षा में जो सत्य उद्घाटित हो, उसके परिणामों पर विचार करना, मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिंतन करना अर्थात् प्रेक्षा के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा में प्रेक्षा के परिणामों का अनुचिंतन करते–करते सत्य का उ्घाटन होने लगता है। इस प्रयोग के द्वारा अनेक मानसिक रोगों का भी उपचार किया जा सकता है। साथ ही इनके द्वारा भावधारा, विचार तथा व्यवहार को परिवर्तित किया जा सकता है। अनुप्रेक्षा की पद्धति स्वभाव परिवर्तन की अचूक पद्धति है। इसके द्वारा जटिलतम आदतों को बदला जा सकता है। अनुप्रेक्षा का प्रयोग सत्य के लिए समर्पित हो जाने का सिद्धांत है। अनुप्रेक्षाएँ अनेक प्रकार की हैं। जैसे–अभय, मृदुता, सत्य, करुणा, प्रामाणिकता, कर्तव्यनिष्ठा, संप्रदाय निरपेक्षता आदि। अनुप्रेक्षा के द्वारा इन मूल्यों को व्यवहार का अंग बनाया जा सकता है।

3.2.2.8 भावना

भावना व्यक्तित्व को सजाने तथा संवारने में बहुत सहायक होती है। अर्थात् शुभ भावना के द्वारा अच्छे संस्कारों को निर्मित किया जा सकता है। व्यवहार को निर्मल बनाया जा सकता है। अतः प्रेक्षाध्यान में भावना का भी अपना विशेष महत्त्व है। भावना का अर्थ है कि सब विषयों को छोड़कर चित्त में केवल एक ही ध्येय का बार–बार बना रहना। भावना से मन को भावित किया जाता है जिससे भावना के अनुरूप ही परिणाम भी प्राप्त होने लगते हैं। भावना कुछ सोच लेना मात्र ही नहीं है वरन् भावना में अपने ज्ञान तंतुओं तथा कोशिकाओं को अपने वशवर्ती किया जा सकता है, उन पर अपनी भावना को अंकित कर लेना। भावना

के प्रयोगों द्वारा किए गए उपचारों को चिकित्सकों ने भी स्वीकार किया है। डॉ. स्टीफन ब्लैक ने माइंड ऍंड बॉडी नामक पुस्तक में लिखा है कि 'गहरी शिथिल अवस्था में रोगियों को लाकर सूचनात्मक भावना के द्वारा उनके शारीरिक व्यवहार में उल्लेखनीय परिवर्तन लाया जा सकता है। इस बात को प्रचुर प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।' भावना मस्तिष्क की धुलाई करने का बहुत बड़ा साधन है। एक ही बात को बार–बार दोहराने से पुराने विचार छूट जाते हैं और नए विचार चित्त में जम जाते हैं। अतः भावना का प्रयोग उपचार तथा मूल्य निर्माण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

3.2.3 विशिष्ट अंग

प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंगों में निम्न हैं–

3.2.3.1 वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

वर्तमान क्षण की प्रेक्षा का अर्थ है कि वर्तमान में रहना; न भूतकाल और भविष्यत् काल। केवल वर्तमान में रहना। वर्तमान को देखना।

3.2.3.2 विचार प्रेक्षा

विचार प्रेक्षा का अर्थ है विचार को देखना। विचार को केवल ज्ञाता–द्रष्टा भाव से देखना। न उसके प्रति कोई राग और कोई द्वेष। इस प्रकार विचार प्रेक्षा करते–करते निर्विचारिता की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है।

3.2.3.3 अनिमेष प्रेक्षा

अनिमेष प्रेक्षा का अर्थ है अपलक देखना। यह त्राटक का दूसरा नाम है। अनिमेष प्रेक्षा आंखों से अपलक देखने का प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग धीरे–धीरे बढ़ाकर अधिक समय तक करना चाहिए। अनिमेष प्रेक्षा के द्वारा मानसिक एकाग्रता का विकास किया जा सकता है।

बोध–प्रश्न

1. प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग कितने हैं?
2. प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत मुख्यतः कौन–सी मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है?
3. शरीर–प्रेक्षा किसे कहते हैं?
4. रंगों का ध्यान कौन सा ध्यान है?
5. प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंग कौन–से हैं?

इकाई – 4

जीवन विज्ञान का परिचय : उद्भव और विकास

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

4.2.1 अणुव्रत आन्दोलन : प्रथम चरण

4.2.2 प्रेक्षाध्यान : दूसरा चरण

4.2.3 जीवन विज्ञान : नामकरण

4.3 जीवन विज्ञान : स्वरूप

4.3.1 जीवन विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषाएँ

4.3.2 जीवन विज्ञान : संतुलित शिक्षा प्रणाली

4.3.3 जीवन विज्ञान : प्रकृति

4.3.4 जीवन विज्ञान : लक्ष्य एवं उद्देश्य

4.4 जीवन विज्ञान : प्रविधियाँ

4.0 उद्देश्य

1. जीवन विज्ञान : उद्भव और विकास

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप–

- जीवन विज्ञान का उद्भव कैसे हुआ, जान सकेंगे।
- जीवन विज्ञान एक संतुलित शिक्षा प्रणाली है, जान सकेंगे।
- जीवन विज्ञान के लक्ष्य एवं उद्देश्य से परिचित हो सकेंगे।
- जीवन विज्ञान की प्रविधियाँ एवं मूल अंगों को व्याख्यायित कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

जीवन विकास का मूलभूत साधन है–शिक्षा। अज्ञानरूपी अन्धकार को हटाने का सर्वोत्तम साधन है–शिक्षा। शिक्षा के दो आयाम हैं– अध्ययन और अभ्यास। अभ्यास पर आज कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। अध्ययन ही अब शिक्षा का अर्थ रह गया है जबकि शिक्षा का मूल उद्देश्य है–शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विकास को आधार बनाकर मनुष्य की आन्तरिक चेतना को जागृत करना। इसी यथार्थ को ध्यान में रखकर उठाया गया एक कदम है– जीवन–विज्ञान। जीवन विज्ञान क्या है? इसका उद्भव किन परिस्थितियों में किन–किन कारणों से हुआ, इसका विवेचन हम इस इकाई में करेंगे। इस इकाई में हम जीवन विज्ञान के लक्ष्य एवं उद्देश्य के साथ उसकी प्रविधियाँ एवं मूल अंगों से भी परिचित हो सकेंगे।

4.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हिन्दुस्तान की संस्कृति ऋषि एवं कृषि प्रधान रही है। सदियों से ऋषि, महापुरुष, सन्त, साधु, महात्मा, परिव्राजक आदि महान आत्माएं घूम–घूम कर जनजीवन में अध्यात्म, नैतिकता, करुणा, प्रेम, मैत्री आदि संस्कारों तथा मूल्यों का सम्प्रेषण और पल्लवन करते रहे हैं। इससे व्यक्ति की चेतना का परिष्कार, जीवन मूल्यों का विकास, स्वस्थ समाज के निर्माण का क्रम आगे बढ़ता रहा है। इस दृष्टि से जीवन विज्ञान कोई नई बात नहीं है। अतः इसका उद्‌भव कब हुआ? कहना कठिन है। भारत की स्वतंत्रता के बाद इसका उद्‌भव एक नयी घटना है।

भारत आजादी से पूर्व शत्रुओं के आक्रमण, देश की गुलामी, प्राचीन साहित्य एवं भाषा से दूरी के परिणामस्वरूप भारतवासियों का अपनी संस्कृति से अपरिचय तथा जीवन के उन्नत मूल्यों से दूरी बढ़ती गई। सहिष्णुता, सह अस्तित्व, सौहार्द एवं प्रेम की जगह असहिष्णुता, साम्प्रदायिकता और विद्वेष ने अपना स्थान बनाया। समाज में जीवन मूल्यों के प्रति भारी गिरावट आई।

शताब्दियों की परतन्त्रता के बाद 15 अगस्त, 1947 को भारत आजाद हुआ। हिन्दू–मुस्लिम दंगे भड़के। लाखों लोग मारे गये। हिन्दुस्तान विभक्त हो गया। यहां लोकतंत्रीय प्रणाली तो विकसित हुई पर जातिवाद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार, अप्रामाणिकता, अनुशासनहीनता, पद की लालसा, अनुचित महत्त्वाकांक्षाएं भी बढ़ती गई। इन समस्याओं से चरित्र विकृत और मानस उत्पीड़ित हो रहा था।

4.2.1 अणुव्रत आन्दोलन : प्रथम चरण

तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों ने महामना, उदारचेता, कोमल हृदय आचार्य तुलसी की चेतना को झंकृत किया। समस्या के समाधान में आपका विचार बना कि देश में असली आजादी तभी आ सकती है जब चारित्रिक–नैतिक उत्थान हो, इसी उदात्त भावना, चिंतन–मनन एवं प्रबल पुरुषार्थ का परिणाम बना– अणुव्रत आंदोलन। 2 मार्च 1949 को हुआ यह आंदोलन जीवन मूल्यों के विकास में पहला प्रस्थान बना। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी ने जन–जन तक नैतिकता की आवाज बुलन्द की। लगभग 60 हजार किलोमीटर की पदयात्रा पूरे भारतवर्ष में की। लाखों लोगों से सम्पर्क साधा। ग्रामीण की झोपड़ी से लेकर संसद भवन तक अपने विचार पहुंचाये। जीवन मूल्यों के विकास में अहर्निश अथक प्रयत्न किये। इस प्रकार स्वतन्त्रता के बाद अणुव्रत आन्दोलन, जीवन–मूल्यों के विकास का पहला चरण और एक नई घटना है।

4.2.2 प्रेक्षाध्यान : दूसरा चरण

अणुव्रत आंदोलन का मुख्य आधार रहा – व्यक्ति की संकल्पशक्ति का जागरण। बहुत सारे व्यक्ति अणुव्रत के नियमों को स्वीकार करते। कुछ लोग प्रतिकूल परिस्थितियों में और अधिक दृढ़ बन जाते हैं किन्तु कुछ लोग चाह कर भी उस परिस्थिति में अडिग नहीं रह पाते। तब ऐसा अनुभव हुआ कि ऐसे लोगों की संकल्पशक्ति के विकास के लिए प्रायोगिक प्रक्रिया भी जुड़े। अणुव्रत–आचारसंहिता के सैद्धांतिक उपक्रम के साथ–साथ प्रायोगिक प्रक्रिया के रूप में प्रेक्षाध्यान के प्रयोग विकल्प के रूप में सामने आये।

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी से प्रेरणा पाकर युवाचार्य महाप्रज्ञ (आचार्य महाप्रज्ञ) ने सन् 1962 में प्रयोग प्रारम्भ किये। तेरह वर्ष तक निरन्तर दीर्घकालीन अनुसंधान व अन्वेषण से प्रेक्षाध्यान प्रयोग पद्धति समाज के सामने प्रस्तुत की। इसका नामकरण सन् 1975, जयपुर में हुआ। सन् 1977 में इसके विधिवत शिविर प्रारम्भ हुए।

प्रेक्षाध्यान का यह सिद्धांत है कि दृष्टिकोण बदल सकता है। आदत, स्वभाव और व्यवहार में परिवर्तन हो सकता है। यह तथ्य शिविर काल में और अधिक स्पष्टता से उजागर और प्रमाणित हुआ। वृत्तियों को बदलने के लिए भिन्न–भिन्न उपाय निर्दिष्ट किये गए। अनेक व्यक्तियों ने प्रयोग किये। अच्छे परिणाम आये और वे प्रयोग उन–उन वृत्तियों के परिष्कार के लिए निर्दिष्ट किये गये। यह क्रम पहले शिक्षा के साथ नहीं जुड़ा था, जन–सामान्य के साथ जुड़ा था। उसमें सफलता मिली और ऐसा लगा कि क्या

इसका प्रयोग शिक्षा में नहीं हो सकता? विद्यार्थी को नहीं बदला जा सकता? समाधान मिला कि बड़े आदमी को बदलने की अपेक्षा छोटे बालकों को बदलना आसान है। चिंतन–मंथन चलते–चलते इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि शिक्षा के क्षेत्र में प्रेक्षाध्यान का प्रयोग करना चाहिए। फलस्वरूप अणुव्रत के सिद्धान्तों, प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों से युक्त एक पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया और उसे शिक्षा के साथ जोड़ा गया। इसी पाठ्यक्रम को नाम दिया गया–जीवन विज्ञान।

4.2.3 जीवन विज्ञान : नामकरण

वस्तुतः जीवन विज्ञान नामकरण से पूर्व इस सैद्धान्तिक और प्रायोगिक शिक्षा पद्धति को क्या नाम दिया जाए इस विषय पर बहुत चिन्तन चला। नाम की चर्चा और चिन्तन में अनेक नाम सामने आये– योग शिक्षा, नैतिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा, मूल्यपरक शिक्षा आदि। अनेक दृष्टियों से विचार हुआ परन्तु सभी नाम किसी न किसी कारण से अनुपयुक्त रहे।

योग शिक्षा

अनेक शिक्षा आयोगों का अभिमत रहा कि इस शिक्षा को योग शिक्षा नाम दिया जाए परन्तु इस नाम की अपनी सीमाएं थी। आज योग का अर्थ केवल आसन–प्राणायाम तक ही सीमित कर दिया गया है। जबकि नये पाठ्यक्रम का विषय–वस्तु विस्तृत था। अहिंसा, अनेकान्त जैसे विस्तृत विषय–वस्तु से युक्त पाठ्यक्रम को केवल योग–शिक्षा नाम देना उचित प्रतीत नहीं हुआ। इस नाम से समग्र विकास की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसलिए योग शिक्षा नाम पूर्णरूप से सटीक नहीं हुआ।

नैतिक शिक्षा

नैतिक शिक्षा इस नाम पर चिन्तन चला पर नैतिक शब्द अपने आप में स्पष्ट न था। नैतिक शिक्षा एक उपदेशात्मक प्रक्रिया है। उपदेश का प्रभाव व्यापक एवं स्थायी नहीं रहता। स्थायित्व के लिए प्रयोग एवं अभ्यास आवश्यक हैं। नये पाठ्यक्रम का मूल उद्देश्य प्रयोग एवं अभ्यास था परन्तु नैतिक शिक्षा नाम देने से नये पाठ्यक्रम के मुख्य उद्देश्य की स्पष्टता का अभाव हो रहा था। अतः यह नाम भी उपयुक्त नहीं लगा।

स्वास्थ्य शिक्षा

इसका भी क्षेत्र सीमित है। यह भी शरीर तक ही सीमित रह जाता है। इससे सामाजिक विकास, अध्यात्मिक विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए यह नाम भी सटीक प्रतीत नहीं हुआ।

मूल्य परक शिक्षा

यह सही है कि जीवन विज्ञान एक मूल्यपरक शिक्षा भी है परन्तु उक्त नाम देने में कुछ कठिनाइयाँ आई। वे ये थीं कि केन्द्रीय सरकार इस नाम पर कार्य कर रही थी। इसलिए नये नाम का चिन्तन चलता रहा। परिणामस्वरूप नया नाम सामने आया–जीवन विज्ञान।

4.3 जीवन विज्ञान : स्वरूप

4.3.1 जीवन विज्ञान : अर्थ

जीवन विज्ञान–जीवन और विज्ञान इन दो शब्दों के योग से बना है।

जीवन को परिभाषित करते हुए कहा गया–जीवन प्राणधारणं।

प्राण को धारण करना जीवन है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में जीवन का अर्थ है– शरीर, प्राण, मन, चित्त, कर्म और भाव का सम्मिलित रूप। विज्ञान का अर्थ है– विशेष रूप से वस्तु के स्वरूप को जानना।

इस अर्थ में जीवन विज्ञान का अर्थ है– जीवन के मूलभूत अंग, जीवन के सम्पूर्ण पक्ष, जीवन के सही स्वरूप को विशेष रूप से जानने वाला विज्ञान। सरल शब्दों में कहा जाए तो जीवन विज्ञान चारित्रिक और नैतिक विकास की सैद्धांतिक और प्रायोगिक शिक्षा पद्धति है।

जीवन विज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा गया–

1. जीवन विज्ञान सम्यक् जीवन जीने की कला के विज्ञान का प्रशिक्षण है।
2. जीवन विज्ञान अहिंसा की शिक्षा, नैतिकता की शिक्षा, आंतरिक परिवर्तन की शिक्षा पद्धति का नाम है।
3. शिक्षा में अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान की समन्वित पद्धति का नाम जीवन विज्ञान है।
4. जीवन के नियमों की खोज का नाम जीवन विज्ञान है।
5. जीवन के मुख्य अंगों पर विचार एवं प्रयोग का नाम जीवन विज्ञान है।

जीवन विज्ञान के विविध पहलुओं के आधार पर इस नई विद्या शाखा को समग्रता से इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है– जीवन विज्ञान वह विज्ञान है, जो जीवन के मुख्य अंग, उनके विकास के साधन एवं उनका जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनुप्रयोग का वैज्ञानिक अध्ययन करता है जिसकी परिणति संतुलित जीवन, मानवीय मूल्य एवं सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास के रूप में होती है।

4.3.2 जीवन विज्ञान : संतुलित शिक्षा प्रणाली

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में जीवन विज्ञान का अर्थ है–संतुलित शिक्षा प्रणाली। वस्तुतः शिक्षा के चार आयाम हैं– 1. शारीरिक विकास, 2. बौद्धिक विकास, 3. मानसिक विकास और 4. भावात्मक विकास।

1. **शारीरिक विकास**– शारीरिक विकास शरीर से संबंधित है। शरीरक्रिया विज्ञान के अनुसार हमारे शरीर में ग्यारह तंत्र हैं–पाचन तन्त्र, श्वसन तन्त्र, उत्सर्जन तन्त्र, अस्थि तन्त्र, नाड़ी तन्त्र, ग्रंथि तन्त्र, प्रजनन तन्त्र, त्वचा तन्त्र, मांसपेशी तन्त्र, रक्तपरिसंचरण तन्त्र आदि। इन तन्त्रों का योग है–शरीर। यदि इनमें किसी प्रकार का विकार पैदा हो जाए अथवा यह सम्यक् रूप से कार्य न करें तो शरीर का समुचित विकास नहीं माना जाता। इनकी सम्यक् क्रियान्विति ही शारीरिक विकास है।
2. **बौद्धिक विकास**– हमारे मस्तिष्क में भिन्न–भिन्न कार्यों के लिए भिन्न–भिन्न प्रकोष्ठ हैं। स्मृति, बुद्धि, चिन्तन सबके अलग–अलग प्रकोष्ठ हैं। हमारा बौद्धिक विकास बुद्धि के प्रकोष्ठों से संबंधित है। जितना–जितना इन प्रकोष्ठों की कार्य करने की क्षमता का विकास होता है, उतना ही बौद्धिक विकास माना जाता है।
3. **मानसिक विकास–** इन्द्रियाँ अपने–अपने विषय को वर्तमान काल में ही ग्रहण कर पाती हैं किन्तु मन इन्द्रियों द्वारा ग्रहित सभी विषयों और कालों को ग्रहण कर चिन्तन करने वाला होता है। अतरू मन को परिभाषित करते हुए कहा गया– सर्वार्थग्राही त्रैकालिकं मनः। मन के तीन कार्य हैं–स्मृति, चिन्तन, कल्पना। ये तीनों सकारात्मक भी हो सकते हैं और नकारात्मक भी। सम्यक् स्मृति, सम्यक् चिन्तन, सम्यक् कल्पना मानसिक विकास को दर्शाते हैं, तो गलत स्मृति, गलत चिन्तन और गलत कल्पना अविकसित मानसिकता के लक्षण हैं।
4. **भावात्मक विकास–** संवेग एक जटिल भावात्मक प्रक्रिया है। भाव संवेग की ही पूर्व अवस्था है। भावों में उफान के पश्चात् संवेग की अवस्था बनती है। भाव व्यक्ति के भीतर में विद्यमान होते हैं। निमित्त पाकर बाहर प्रकट होते हैं। भाव भी सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रकार के होते हैं–सहिष्णुता, विनम्रता, प्रेम, वात्सल्य, सहानुभूति ये सब सकारात्मक भाव हैं। वहीं घृणा, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, शंका आदि नकारात्मक भाव हैं। इन नकारात्मक भावों का प्रबल होना भावात्मक ह्रास है। सकारात्मक भावों में वृद्धि होना भावात्मक विकास का लक्षण है।

संतुलित शिक्षा प्रणाली का तात्पर्य एक ऐसी शिक्षा प्रणाली से है जो इन सभी आयामों पर ध्यान दे। जो सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्नशील हो। जीवन विज्ञान इसी ओर उठाया गया एक कदम है। यह संतुलित व्यक्तित्व विकास के लिए चार तथ्यों पर ध्यान देता है।

1. **प्राणधारा का संतुलन**— मानसिक और भावनात्मक विकास के लिए प्राणधारा का विकास और संतुलन आवश्यक है। कुण्डलिनी योग के अनुसार हमारे शरीर में 72000 या इससे भी कहीं अधिक नाडियां हैं जिनसे प्राण, जीवनी शक्ति, प्रेरणाएँ तथा अन्यान्य ऊर्जाएँ विद्युत तरंगों के समान बहती हैं तथा शरीर के विभिन्न कोशों और अंगों को स्वास्थ्य तथा तालबद्धता को सही सलामत रखती हैं। इन 72000 नाडियों में भी तीन महत्त्व की हैं। ये तीन नाडियाँ इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना कहलाती हैं। पिंगला को सूर्य नाड़ी भी कहते हैं तथा इड़ा को चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं। इड़ा और पिंगला इन दोनों का प्राचीन योगशास्त्रीय नाम हैं। आज की शरीरशास्त्रीय भाषा में इनकी तुलना पेरा सिंपेथेटिक नर्वस और सिंपेथेटिक नर्वस से की जाती है। जब प्राण का एक प्रवाह अधिक सक्रिय होता है, उद्दंडता और उच्छृंखलता पनपती है, हिंसक और तोडफोड़ की वृत्ति बढ़ती है। यह सारा कार्य दायीं प्राणधारा की सक्रियता का परिणाम है। यदि प्राणधारा का बायां प्रवाह सक्रिय होता है तो व्यक्ति में हीनभावना का विकास होता है, भय की वृत्ति होती है, दुर्बलता आती है। दोनों में संतुलन अपेक्षित है। जब दोनों में संतुलन सधता है तब संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है। तब न हीनभावना पनपती है, न उद्दंडता बढ़ती है, न अनुशासनहीनता आती है और न भय की वृत्ति होती है। जीवन विज्ञान इन दोनों प्राणधारा के सन्तुलन का प्रयास करता है।

2. **जैविक संतुलन**— आज के मेडिकल साइन्स ने मस्तिष्कीय खोजों द्वारा यह प्रस्थापित किया है कि आदमी के मस्तिष्क का बायां हिस्सा (Left hemesphere) स्कूलीय अध्ययन के लिए बहुत उपयोगी है। तर्क, गणित और भाषा का जितना कार्य है, यह सारा बाएं हिस्से का कार्य है। आज मस्तिष्क पर और उसकी कार्य—प्रणाली पर प्रतिवर्ष अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं। उनमें अनेक रहस्योद्घाटन हो रहे हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मस्तिष्क की रचना और उसकी कार्य—प्रणाली की पूरी जानकारी हो गई है। बहुत अल्प जानकारी हुई है। उसके आधार पर कहा जा सकता है कि मस्तिष्क का बायां हिस्सा बौद्धिक विकास के लिए उत्तरदायी है। अध्यात्म, अन्तश्चेतना का विकास, आन्तरिक वृत्तियों का विकास यह सब दायें मस्तिष्क का काम है। यह इनके विकास और ह्रास के लिए उत्तरदायी है। आज बायां हिस्सा अधिक सक्रिय हो गया है। दायां हिस्सा सोया रह गया है। सन्तुलित व्यक्तित्व विकास के लिए मस्तिष्क के दोनों हिस्सों का सन्तुलन आवश्यक है। जीवन विज्ञान असंतुलन की इस खाई को भरने का प्रयास करता है।

3. **क्षमता की आस्था का जागरण**— जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में अनंत ज्ञान होता है, अनंत शक्ति होती है। यह प्राचीन दर्शन की भाषा है। आज का विज्ञान भी इसी भाषा में बोलने लग गया है। अभी कुछ वर्ष पूर्व सुपर लर्निंग की प्रणाली विकसित हुई। डॉ. लॉपनोव ने इस प्रणाली को जन्म दिया। उसका यह सिद्धान्त है कि हमारे मस्तिष्क में सीखने की अनन्त क्षमता है। उसे विकसित किया जा सकता है। उसने उसके प्रयोग किए। जो बच्चा पांच—दस शब्द याद करने में हिचकिचाता था, उसे इस प्रणाली से हजारों शब्द याद करा दिये गए। इस प्रकार विज्ञान भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा है कि हमारे मस्तिष्क में अनंत क्षमताएं हैं परन्तु आदमी उन क्षमताओं का पांच—सात प्रतिशत ही उपयोग कर पाता है। जो उसका दस प्रतिशत उपयोग करने लग जाता है, वह महान् व्यक्ति बन जाता है। जो उपयोग नहीं कर पाता, उसकी सारी क्षमताएं सोयी रह जाती हैं।

   जीवन विज्ञान का कार्य विद्यार्थियों में इस आस्था को जागृत करना है कि हमारे भीतर अनन्त क्षमताएं हैं और हम उसका उपयोग कर सकते हैं, उनसे लाभ उठा सकते हैं।

4. **परिष्कार** — जीवन विज्ञान का चौथा अर्थ है—परिष्कार। यह परिष्कार तीन आयामों में होता है—

   दृष्टिकोण का परिष्कार, व्यवहार का परिष्कार और भावना का परिष्कार। मिथ्यादृष्टिकोण, मिथ्याव्यवहार और मिथ्याभावना— ये तीनों मनुष्य को पतन की ओर ले जाते हैं। किसी भी राष्ट्र के उत्थान और पतन का इतिहास पढ़ें, किसी भी समाज और व्यक्ति के उत्थान और पतन की कहानी पढ़ें, उसकी गहराई में उपरोक्त तीन बातें मिलेंगी। उत्थान के भी तीन कारण हैं— सम्यग् दृष्टिकोण,

सम्यग् व्यवहार और सम्यग् भाव। जीवन विज्ञान विद्यार्थी का परिष्कार चाहता है। वह चाहता है कि उसकी दृष्टि बदले, व्यवहार बदले और भावना बदले। वैज्ञानिक खोजों के अनुसार इन सब पर हाइपोथेलेमस और ग्रंथि तंत्र का नियन्त्रण है। जीवन विज्ञान ग्रंथि तन्त्र के स्रावों का परिष्कार कर दृष्टि, व्यवहार और भाव का परिष्कार करना चाहता है। इसीलिए आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जीवन विज्ञान एक संतुलित शिक्षा प्रणाली है जिसमें जीवन को संतुलन बनाने के विविध उपाय निर्दिष्ट हैं।

4.3.3 जीवन विज्ञान : प्रकृति

प्रकृति का अर्थ है वस्तु का स्वरूप। जीवन विज्ञान की प्रकृति का अर्थ है– जीवन विज्ञान क्या है? उसका वस्तु स्वरूप क्या है? जीवन विज्ञान के स्वरूप को जानने के लिए हम निम्नलिखित बिन्दुओं का उपयोग कर सकते हैं–

1. नई विद्या शाखा– शिक्षा जगत् में विद्या की अनेक शाखाएं है। प्रायः शाखाओं का उद्देश्य ज्ञान प्रदान करना तथा मानव मात्र की बौद्धिक क्षमता का विकास कर अर्थोपार्जन के योग्य बनाना ही रहा है परन्तु जीवन विज्ञान एक नई विद्या शाखा है। इसका मूल लक्ष्य विद्यार्थी को जीविकोपार्जन के साथ जीने की कला सिखाना है। जीवन को सिद्धान्तों के साथ प्रयोगों से आप्लावित कर उसे जीने का एक नया मार्ग दिखाना है। यह एक ऐसी विद्या शाखा है जिसका प्रयोग चेतना के जागरण के लिए किया जाता है। नैतिक एवं चारित्रिक विकास केवल उपदेशों से सम्भव नहीं है। इसके लिए आवश्यक है चेतना का रूपान्तरण, हृदय परिवर्तन। हृदय परिवर्तन के लिए आवश्यक है अपने आपको जानना, स्वयं को पहचानना। यह स्वयं को पहचानने तथा आत्मा के निकट ले जाने वाली नवीन विद्याशाखा है।

2. समन्वित शिक्षा पद्धति– जीवन विज्ञान एक संतुलित एवं परिपूर्ण विद्या शाखा है। संतुलित इसलिए है कि इसमें शारीरिक व बौद्धिक विकास के साथ–साथ मानसिक व भावनात्मक विकास का संतुलन स्थापित किया गया है। परिपूर्ण इसलिए है कि इसमें सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ–साथ प्रायोगिक अभ्यास भी अनिवार्य है। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में जीवन विज्ञान समन्वित शिक्षा पद्धति का नाम है। इसमें अहिंसा की शिक्षा, नैतिक शिक्षा और आन्तरिक परिवर्तन की शिक्षा–तीनों का समन्वय है। इसे शिक्षा के क्षेत्र में अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान के समन्वय से विकसित किया गया है।

3. नियमों की खोज– विज्ञान का अर्थ है–नियमों की खोज। भौतिक विज्ञान में भौतिक पदार्थों के अध्ययन के द्वारा नियमों की खोज की जाती है। रसायन विज्ञान में रासायनिक पदार्थों के अध्ययन के द्वारा नियमों की खोज की जाती है। इसी प्रकार जीवन विज्ञान में जीवन के विभिन्न पक्षों के अध्ययन द्वारा नियमों की खोज की जाती है जिससे उसके उपयोग द्वारा जीवन के सभी पक्षों का विकास किया जा सके।

जीवन के मुख्य तीन पक्ष हैं– ज्ञानात्मक पक्ष, भावात्मक पक्ष एवं क्रियात्मक पक्ष। इस सन्दर्भ में जीवन विज्ञान के मुख्य तीन लक्ष्य हैं–

1. जीवन के उन नियमों की खोज जिनसे इन तीनों पक्षों का परिष्कार किया जा सके।
2. जीवन के उन नियमों की खोज जिनसे भावात्मक विकास और बौद्धिक विकास में संतुलन स्थापित किया जा सके।
3. जीवन के उन नियमों की खोज जिनसे प्रज्ञा को, अन्तःकरण को, शुद्ध चेतना को जगाया जा सके। अचेतन मन को परिष्कृत किया जा सके।
4. प्रयोगात्मक विज्ञान– आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जीवन विज्ञान के मुख्य सात अंग है–शरीर, श्वास, प्राण, मन, भाव, कर्म, चित्त। इन सातों अंगों की समष्टि का नाम जीवन है। स्वस्थ जीवन जीने के लिये इन सातों अंगों के विकास पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। जीवन विज्ञान में इन सातों अंगों पर प्रेक्षाध्यान के प्रयोग निर्धारित किये गये हैं। इन अंगों का प्रेक्षाध्यान के साथ क्या सम्बन्ध है– इस पर स्पष्ट रूप से वैज्ञानिक विवेचन है। अतः जीवन विज्ञान एक नई विद्या शाखा, समन्वित शिक्षा पद्धति, नियमों की खोज के साथ–साथ एक विशिष्ट प्रयोगात्मक विज्ञान है।

4.3.4 जीवन विज्ञान : लक्ष्य एवं उद्देश्य

शिक्षा जगत में अनेक विद्याशाखायें हैं। जब–जब नये–नये प्रश्न, जिज्ञासायें एवं समस्याएं उभरती हैं तब–तब उन्हीं जिज्ञासा एवं समस्या समाधान के संदर्भ में नई–नई विद्याशाखाएँ भी उभरती रहती हैं। प्रत्येक विद्याशाखा का समस्याओं के समाधान में एक निश्चित दृष्टिकोण रहता है। उसका अपना परिप्रेक्ष्य रहता है। उसके अध्ययन के कुछ अपने मुख्य लक्ष्य व उद्देश्य रहते हैं। अपने लक्ष्य एवं दृष्टिकोण से अध्ययन व अनुसंधान होने पर उसका विकास क्रम आगे से आगे बढ़ता है। कालान्तर में समस्या–समाधान में वह विद्या शाखा एक नई दृष्टि प्रदान करती है जिससे व्यक्ति और समाज लाभान्वित होते हैं। जीवन विज्ञान एक नई विद्या–शाखा है, उसके भी अपने लक्ष्य एवं उद्देश्य हैं।

लक्ष्य

1. जीवन के परिष्कार द्वारा आध्यात्मिक–वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण करना।
2. जीवन की शारीरिक, मानसिक एवं चौतसिक प्रक्रियाओं पर योग एवं प्रेक्षाध्यान की प्रक्रियाओं के प्रभावों का वैज्ञानिक अध्ययन करना।
3. जीवन के उन नियमों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन एवं अन्वेषण करना जिससे जीवन के ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष का परिष्कार होता है।
4. स्वस्थ समाज की संरचना के लिये ऐसे व्यक्तित्व (प्रशिक्षक) का निर्माण करना जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों हेतु स्वस्थ जीवन की प्रायोगिक अभ्यासात्मक प्रक्रियाओं को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत कर सकें। इसके माध्यम से वह समग्र व्यक्तित्व एवं स्वस्थ समाज के निर्माण में सहभागी बन सकें।

उपरोक्त लक्ष्यों द्वारा जीवन–विज्ञान अनेक उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहता है–

1. बौद्धिक और भावात्मक विकास का संतुलन।
2. संवेग और विवेक में सामंजस्य।
3. सामाजिकता और वैयक्तिकता में सामंजस्य।
4. मानवीय संबंधों में परिवर्तन।
5. नैतिक मूल्यों का विकास।
6. आत्मानुशासन की क्षमता का विकास।
7. मानवीय समस्याओं के प्रति संवेदनशीलता का विकास।
8. पुस्तकीय ज्ञान के साथ–साथ अच्छे ढंग से जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण।
9. संवेग नियंत्रण की पद्धति सिखाना।
10. सामाजिक व्यवहार को निश्छल एवं मैत्रीपूर्ण बनाना।
11. मादक वस्तुओं के सेवन से मुक्ति दिलाना।
12. जीवन की समस्याओं के समाधान की खोज एवं स्वस्थ जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त करना।
13. स्वयं की शक्तियों से परिचय कराना एवं उपयोग करने में दक्ष बनाना।

बोध प्रश्न–1

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये–

1. जीवन विज्ञान का उद्भव कैसे, किन परिस्थितियों में हुआ– एक लेख लिखिये।
2. जीवन विज्ञान के नामकरण की चर्चा करते हुए इसके अर्थ एवं परिभाषा पर प्रकाश डालिये।
3. जीवन विज्ञान एक संतुलित शिक्षा प्रणाली है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? स्पष्ट करें।
4. सर्वांगीण विकास को स्पष्ट करते हुए जीवन विज्ञान की प्रकृति पर प्रकाश डालें।

4.4 जीवन विज्ञान : प्रविधियाँ

किसी भी व्यक्ति, परिवार, समाज एवं राष्ट्र के पतन का मुख्य कारण है—मिथ्या दृष्टिकोण, असद् व्यवहार एवं असत् भावना। ये तीनों कारण व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक को किसी भी स्तर पर गिरा सकते हैं। वहीं व्यक्ति से लेकर राष्ट्र उत्थान के लिए भी तीन बातें—सम्यक् दृष्टिकोण, सम्यक् व्यवहार एवं सम्यक् भावना की आवश्यकता होती है। इसीलिए जीवन विज्ञान ने छात्रों के दृष्टिकोण परिवर्तन, व्यवहार परिवर्तन एवं भाव परिवर्तन पर ज्यादा ध्यान दिया है। इस परिवर्तन से ही छात्रों का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं भावात्मक विकास संभव है।

उक्त परिवर्तन एवं विकास के लिये जीवन विज्ञान ने जिन मूल तत्त्वों को अपनाया है, उसे प्रविधियाँ कहा जाता है। जीवन विज्ञान में अनेकान्त, अहिंसा, अणुव्रत एवं प्रेक्षाध्यान आदि चार प्रविधियाँ अर्थात् साधन हैं जिनके द्वारा छात्रों में परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है।

1. अनेकान्त– हमारा जीवन सुख–दुःख आदि विरोधी युगलों के आधार पर चलता है। यदि विरोधी युगल समाप्त हो जाएं तो हमारा जीवन भी समाप्त हो जाएगा। अनेकान्त इस सत्य को प्रकट करता है। वस्तु को समग्रता के दृष्टिकोण को स्वीकार कर आगे बढ़ता है।

किसी एक वस्तु को देखने का दृष्टिकोण प्रत्येक व्यक्ति का अलग–अलग हो सकता है और सभी के दृष्टिकोणों में सत्य का अंश हो सकता है। किन्तु हम कई बार अपने दृष्टिकोण के प्रति आग्रह कर लेते हैं कि मैं ही सही हूँ। यह आग्रह द्वेष और हिंसा को जन्म देता है। दूसरों के दृष्टिकोण को सहानुभूति के साथ समझने के प्रयास से परस्पर सम्मान, सौहार्द्र, प्रेम आदि का विकास होता है।

अनेकान्तिक दृष्टिकोण मानव जीवन के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। विद्यार्थी का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही व्यापक एवं उदार बने, इस दृष्टि से जीवन विज्ञान के पाठ्यक्रम में अनेकान्त को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

उद्देश्य–

- व्यक्ति संतुलित जीवनयापन कर सके।
- परिवार और समाज में सह–अस्तित्व को और अधिक विकसित कर सके।
- सापेक्षता को समझ सके।
- सभी को सम्मान दे सके।

पाठ्यक्रम–अनेकान्त, व्यवहार–सिद्धान्त और प्रक्रिया, सह–अस्तित्व, समन्वय, सापेक्षता, स्वतंत्रता, संतुलन, परिवर्तन, आशावादी दृष्टिकोण।

शिक्षण विधि

- सैद्धान्तिक–व्याख्यान, परिचर्चा, वाद–विवाद।
- प्रायोगिक–कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा–समन्वय, सहिष्णुता आदि।

2. अहिंसा– समस्या का समाधान भय या हिंसा के द्वारा ही हो सकता है, यह विश्वास कुछ समय पहले तक अधिकांश लोगों के मन में था लेकिन हिंसा के साधन पत्थर से परमाणु बम तक हो जाने के बाद भी जब मनुष्य को शांति नहीं मिली तब उसे लगने लगा कि समस्या का समाधान हिंसा नहीं है बल्कि हिंसा से और अधिक समस्याओं का जन्म हुआ है। आज हिंसा के साधनों के विकास में अधिकांश देशों में इतना ज्यादा खर्च हो रहा है कि वह अपने देश की गरीबी, शिक्षा, चिकित्सा जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों की तरफ तो पूरा ध्यान ही नहीं दे पा रहे हैं। अतः विद्यार्थियों में प्रारम्भ से ही अहिंसा के प्रति निष्ठा जागे, अहिंसक चेतना का विकास हो, इस दृष्टि से जीवन विज्ञान ने इसे अपनी प्रविधि के रूप में स्वीकार किया है।

उद्देश्य– 1. मनुष्य अपनी इच्छाओं का संयम करे।, 2. अहिंसक प्रतिकार करना सीखे।, 3. प्रत्येक मनुष्य अहिंसक जीवनशैली अपनाए।, 4. विश्वशांति।, 5. सर्वधर्म समभाव।, 6. शोषण की समाप्ति।

पाठ्यक्रम– अहिंसक समाज संरचना विधि एवं निष्पत्तियाँ, विभिन्न धर्म–दर्शनों में अहिंसा का स्वरूप, अहिंसा का व्यवहार, अहिंसा–प्रशिक्षण का आधार एवं स्वरूप, अहिंसक व्यक्तित्व का निर्माण, अहिंसक व्यवहार की प्रक्रिया और लाभ।

शिक्षण विधि–

- सैद्धान्तिक–व्याख्यान विधि, वाद–विवाद, परिचर्चा, कहानी।
- प्रायोगिक–आसन, प्राणायाम, कायोत्सर्ग आदि।
- अनुप्रेक्षा–आत्मसंयम, अहिंसा, साम्प्रदायिक एकता, मानवीय एकता, ऋजुता।

3. अणुव्रत– एक समय था जब मनुष्य नैतिक अधिक था। उसमें बुराइयाँ कम थीं। उसके मन में दुर्बलताएँ नहीं थीं। इसलिए समाज में मूल्यों से संबंधित कोई आंदोलन नहीं था। गुरु एवं साधु संतों की वाणी को प्रायः व्यक्ति भगवान की वाणी मानकर उसका पूरा पालन करते थे। शनैः शनैः इन सबमें शिथिलता आने लगी। आजादी के पश्चात् तो देशवासियों की स्थिति सुधरने की बजाय और खराब हो गई। धर्म के नाम पर दंगे और अधिक होने लगे। नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्था का भाव पैदा होने लगा। इसलिए नैतिक आंदोलन की आवश्यकता बढ़ गई। नैतिकता के पुनर्जागरण हेतु आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रतों का सूत्रपात किया। गणाधिपति श्री तुलसी द्वारा चलाये गये इस अणुव्रत आंदोलन को जन–मानस का काफी समर्थन मिला। अणुव्रत आंदोलन जनता में बहुत लोकप्रिय हुआ। विद्यार्थियों में भी नैतिक मूल्यों के प्रति जागरूकता एवं प्रतिबद्धता बढ़े, इस दृष्टि से इसको शैक्षिक पाठ्यक्रम में लिया गया।

उद्देश्य 1. व्रत द्वारा सामाजिक समस्याओं का समाधान। 2. समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना।

3. सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना। 4. पर्यावरण की सुरक्षा।

5. व्यसन मुक्त जीवन जीने के लिए प्रेरित करना। 6. स्वस्थ राजनीति।

7. व्यवसाय में प्रामाणिकता। 8. छात्रों का चारित्रिक विकास।

पाठ्यक्रम–अणुव्रत का स्वरूप, अणुव्रत आंदोलन, अणुव्रत नियमों की विवेचना, नशामुक्ति आदि।

शिक्षण विधि

- सैद्धान्तिक–व्याख्यान विधि, वाद–विवाद, परिचर्चा, कहानी।
- प्रायोगिक–आसन, प्राणायाम, दीर्घश्वास प्रेक्षा, चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा, लेश्याध्यान, अनुप्रेक्षा, चित्र प्रदर्शनी, रैली, संकल्प–पत्र भरवाना आदि।

4. प्रेक्षाध्यान– प्रेक्षाध्यान जीवन विज्ञान का प्रायोगिक आधार है। जीवन विज्ञान अपने उद्देश्यों को प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों के माध्यम से ही प्राप्त करता है। अनेकान्त, अहिंसा और अणुव्रत जीवन विज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष हैं तथा प्रेक्षाध्यान जीवन विज्ञान का प्रायोगिक पक्ष है। इसके मुख्य अंग–कायोत्सर्ग, अन्तर्यात्रा, श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, लेश्याध्यान, अनुप्रेक्षा एवं भावना है तथा सहायक अंग–ध्वनि, मुद्रा, आसन एवं प्राणायाम हैं। विशिष्ट अंगों में अनिमेष प्रेक्षा, वर्तमान क्षण की प्रेक्षा एवं विचार प्रेक्षा हैं।

उपरोक्त सभी अंगों का शरीर तथा मन पर पडने वाले प्रभावों को जांचा जा सकता है।

उद्देश्य–

- चित्त की शुद्धि।
- मूल्यों की स्थापना करना।
- प्रज्ञा का जागरण करना।
- आन्तरिक क्षमताओं को जगाना।
- भौतिकता से आध्यात्मिकता की तरफ ले जाना।
- आध्यात्मिक–वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण।

पाठ्यक्रम–

- प्रेक्षाध्यान के सभी अंगों का आध्यात्मिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण।
- विभिन्न क्षेत्रों में इसकी उपयोगिता।

शिक्षण विधि

सैद्धान्तिक–व्याख्यान विधि, प्रदर्शन विधि।

प्रायोगिक

- ध्यान के प्रयोग, आसन, प्राणायाम।
- शरीर पर पड़ने ?वाले प्रभावों को उपकरणों के द्वारा जांचने के प्रयोग।
- मनोवैज्ञानिक प्रयोग।

इकाई – 5

जीवन विज्ञान के घटक एवं लाभ

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 जीवन विज्ञान के घटक

5.2.1 शरीर

5.2..2 श्वास

5.2.3. प्राण

5.2.4. मन

5.2.5. भाव

5.2.6. कर्म

5.2.7. चित्त

5.3 जीवन विज्ञान के लाभ

5.3.1 व्यक्तिव विकास में जीवन विज्ञान

5.4 शिक्षा में जीवन विज्ञान

5.4.1 शिक्षा : अर्थ

5.4.2 वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षा

5.4.3 जीवन विज्ञान की उपयोगिता

5.5 प्रशासन में जीवन विज्ञान

5.5.1 प्रशासन : अर्थ

5.5.2 प्रशासन में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

5.6 चिकित्सा में जीवन विज्ञान

5.6.1 चिकित्सा विज्ञान

5.6.2 बीमारी का कारण

5.6.3 चिकित्सा में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

5.7 समाज में जीवन विज्ञान

5.7.1 समाज : अर्थ

5.7.2 समाज में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

5.8 उद्योग में जीवन विज्ञान

5.8.1 उद्योग : अर्थ

5.8.2 उद्योग में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य जीवन के विविध क्षेत्र– व्यक्तित्व, शिक्षा, प्रशासन, चिकित्सा, समाज एवं उद्योग में जीवन विज्ञान की उपयोगिता से अवगत करवाना है। इस इकाई के अध्ययन के बाद –

- संतुलित एवं असंतुलित व्यक्तित्व में भेद कर पाएंगे।
- संतुलित व्यक्तित्व के निर्माण में जीवन विज्ञान किस प्रकार उपयोगी है समझ सकेंगे।
- शिक्षा के क्षेत्र में स्वस्थ वातावरण का निर्माण कैसे हो, जान पाएँगे।
- अच्छे प्रशासन के लिए जीवन विज्ञान की महत्ता को जान सकेंगे।
- बीमारियों का उपचार जीवन विज्ञान के द्वारा कर पाएँगे।
- सामाजिक समस्याओं का समाधान सरल ढंग से कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

संसार में अनेक पदार्थ हैं। उनमें से कुछ उपयोगी होते हैं कुछ अनुपयोगी। जो वस्तुएं अनुपयोगी होती हैं, उनका विकास अवरुद्ध हो जाता है। वे धीरे–धीरे काल के गर्त में चली जाती हैं, लुप्त हो जाती हैं। जो पदार्थ उपयोगी होते हैं उनका विकास होता रहता है, मांग बढ़ती जाती है। शिक्षा जगत् में जीवन विज्ञान एक उपयोगी विद्या शाखा है। यद्यपि इसका अध्ययन–अध्यापन बहुत पुराना नहीं है किन्तु जब से जीवन विज्ञान का उद्भव हुआ है तभी से इसकी मांग बढ़ती जा रही है। शिक्षा जगत् के अतिरिक्त भी अनेक व्यक्तियों ने जीवन विज्ञान की प्रयोगात्मक प्रक्रिया प्रेक्षाध्यान को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अजमाया है। उन्हें अप्रत्याशित सफलता मिली है। इसके वस्तुनिष्ठ परीक्षण किए हैं। व्यक्तिनिष्ठ अनुभव और अभिमत भी एकत्रित किए गए हैं। इन सबने मिलकर इसकी असीम उपयोगिता एवं संभावनाओं को उजागर किया है। सबसे पहले इसकी उपयोगिता शिक्षा क्षेत्र में उभर कर आई। अब यह प्रशासन, चिकित्सा, उद्योग, समाज आदि जीवन के विविध क्षेत्रों में उपयोगी सिद्ध हो रही है।

5.2 जीवन विज्ञान के घटक

बहुत बार लोगों के मन में यह प्रश्न उठता है कि जीवन क्या है परन्तु इसका कोई एक उत्तर नहीं हो सकता। भिन्न–भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न–भिन्न प्रकार से इसे परिभाषित किया है। कोई कहता है जीवन एक संघर्ष है, कोई कहता है जीवन एक लक्ष्य है, जीवन एक अवसर है, जीवन एक यात्रा है, जीवन एक खेल है। इस प्रकार अनेक परिभाषाएँ सामने आती हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के शब्दों में शरीर, श्वास, प्राण, मन, भाव, कर्म और चित्त–इन सात घटकों का सम्मिलित रूप है–जीवन। इन सातों में से किसी भी एक को पृथक् कर जीवन को समग्र रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता। व्यक्ति जीवन जीता है। केवल जीना उसका लक्ष्य नहीं है अपितु प्रत्येक व्यक्ति एक अच्छा और सुखमय जीवन जीना चाहता है।

सुखमय जीवन जीने के लिए जीवन के सातों अंगों को प्रशिक्षित करना आवश्यक है क्योंकि इन्हें प्रशिक्षित न करने पर यह हमारे सुखमय जीवन के बाधक भी बन सकते हैं। जीवन विज्ञान में इन सातों को प्रशिक्षित करने के महत्त्वपूर्ण उपाय निर्दिष्ट हैं।

5.2.1 शरीर– जीवन का पहला घटक तत्त्व है– शरीर। शरीर को परिभाषित करते हुए कहा गया– सुखदुखानुभव साधनं शरीरम्। जो सुख और दुःख के अनुभव का साधन है, वह शरीर है। मनुष्य का शरीर बहुत रहस्यमय है। इसमें अनेक रहस्य छिपे हुए हैं। शरीर क्रिया विज्ञान ने अनेक रहस्यों को प्रकट भी किया है फिर भी बहुत कुछ छिपा हुआ है। जीवन विज्ञान के संदर्भ में शरीर को पढ़ना हो तो पढ़ने का दृष्टिकोण ही बदल जाता है। हमारे शरीर में कुछ ऐसे केन्द्र हैं, जहाँ चेतना सघन रूप से केन्द्रित होती है।

प्रेक्षाध्यान की भाषा में उन्हें चैतन्य केन्द्र कहा जाता है। उन पर ध्यान के प्रयोग करवाये जाते हैं। भिन्न–भिन्न केन्द्रों पर ध्यान की निष्पत्ति भिन्न–भिन्न है। आध्यात्मिक शक्ति जागृत करने के लिए दर्शन केन्द्र पर ध्यान किया जाता है। नशामुक्ति के लिए अप्रमाद केन्द्र पर तो अनुशासित और आत्मनियंत्रण के लिए विशुद्धि केन्द्र पर ध्यान करवाया जाता है। प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में शरीर को पढ़ने से यह भी समझ में आता है कि भावात्मक परिवर्तन के केन्द्र कहाँ–कहाँ हैं और उन्हें प्रयोगों द्वारा कैसे परिवर्तित किया जा सकता है।

वस्तुतः शरीर के मुख्य दस तन्त्र है। इन दसों तन्त्रों को प्रयोगों द्वारा प्रशिक्षित किया जा सकता है। एक व्यक्ति के जीवन में हिंसा, साम्प्रदायिकता, उत्तेजना, शांति, कलह आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इन सबके लिये केवल मन और भाव ही उत्तरदायी नहीं होते हैं, शरीर भी उत्तरदायी होता है। अतः एक स्वस्थ जीवन जीने के लिए शरीर को प्रशिक्षित करना बहुत जरूरी है। इसी दृष्टि से जीवन विज्ञान ने शरीर को प्रशिक्षित करना पहला कर्त्तव्य माना है। फलतः इसमें शारीरिक प्रशिक्षण के निम्न साधन निर्दिष्ट हैं– 1. आसन, यौगिक क्रियाएँ, 2. कायोत्सर्ग, शरीर प्रेक्षा, 3. अनुप्रेक्षा–सुझाव और संकल्प का प्रयोग।

5.2..2 श्वास– जीवन का दूसरा घटक तत्त्व है– श्वास। श्वास का हमारे जीवन में बहुत महत्त्व है। क्षण भर के लिए श्वास के बिना व्यक्ति बेचैन हो जाता है तो कुछ क्षणों में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। व्यक्ति आहार के बिना कुछ समय रह सकता है पर श्वास के बिना कुछ सैकण्ड रहना भी कठिन हो जाता है। मनुष्य के लिए मस्तिष्क का महत्त्व सर्वविदित है। हमारा प्रत्येक कार्य मस्तिष्क पर निर्भर है। जैसा मस्तिष्क का आदेश होता है, शरीर वैसा ही कार्य करता है परन्तु इस मस्तिष्क संचालन में श्वास का बहुत बड़ा हाथ है। मस्तिष्क के दो पटल हैं– दायां पटल और बायां पटल। दाहिने नाक से लिया गया श्वास बायें मस्तिष्क को सक्रिय करता है और बायें नाक से लिया गया श्वास दायें मस्तिष्क को। जीव के सम्यक् संचालन के लिए दायें और बायें पटल में सन्तुलन बहुत आवश्यक है अन्यथा हीनभावना, दब्बूपन, उच्छृंखलता आदि अवांछनीय तत्त्व जीवन में प्रविष्ट हो सकते हैं। इन तत्त्वों से स्वयं को बचाने तथा मस्तिष्कीय संतुलन के लिये श्वास को प्रशिक्षित करना बहुत आवश्यक है अन्यथा जीवन के लिये श्वास बाधक भी हो सकता है। श्वास को प्रशिक्षित करने के लिए जीवन विज्ञान में निम्न साधन निर्दिष्ट हैं– 1. समवृत्ति श्वास–प्रेक्षा, 2. दीर्घ श्वास प्रेक्षा (रेचन, पूरक, कुम्भक के साथ), 3. अनुलोम–विलोम प्राणायाम।

5.2.3. प्राण– जीवन का तीसरा घटक तत्त्व है–प्राण। प्राण को परिभाषित करते हुए कहा गया–जीवनी शक्तिः प्राणः। जीवन जीने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, वह शक्ति प्राण है। प्राण सूक्ष्म है लेकिन जीवन संचालन के लिए एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। हमारे शरीर की जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे प्राण द्वारा संचालित होती हैं। प्राण न हो तो व्यक्ति का जीवन ही समाप्त हो जाए। प्राण पूरे शरीर में प्रवाहित रहता है। इसके प्रवाह में किसी भी प्रकार का असन्तुलन रुग्णता का परिचायक है। प्राण असंतुलित होते ही मनुष्य रुग्ण हो जाता है क्योंकि हमारा शरीर प्राण से संचालित है। मन और वाणी का संचालन इसी से होता है। इसलिए एक स्वस्थ जीवन जीने के लिए प्राण का संतुलन और प्राण को संतुलित रखने के लिये प्राण को प्रशिक्षित करना बहुत आवश्यक है। प्रेक्षाध्यान पद्धति में प्राण को संतुलित रखने के निम्न साधन निर्दिष्ट हैं–1. तैजस् केन्द्र प्रेक्षा, 2. विशुद्धि केन्द्र प्रेक्षा, 3. शरीर प्रेक्षा, 4. समवृत्ति श्वास प्रेक्षा, 5. प्राण केन्द्र (नाक के अग्र भाग) पर ध्यान।

5.2.4. मन– जीवन का चौथा घटक तत्त्व है–मन। मन क्या है, इस सन्दर्भ में हमने पूर्व में चर्चा की है। वस्तुतः मन का सम्बन्ध हमारे मानसिक स्वास्थ्य से है। व्यक्ति के जीवन में मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक स्वास्थ्य से भी अधिक मूल्यवान है। मन की अधिक चंचलता अधिक समस्याएँ उत्पन्न करती है। मन की एकाग्रता अनेक समस्याओं का समाधान है। प्रेक्षाध्यान पद्धति में मन बाधक न बने इस दृष्टि से मन की एकाग्रता के लिये अनेक प्रयोग करवाये जाते हैं।

अनावश्यकता के बिन्दु पर न पहुंचें, इस दृष्टि से निम्न प्रयोग निर्दिष्ट हैं– 1. दीर्घश्वास प्रेक्षा, 2. प्राणकेन्द्र प्रेक्षा, 3. दर्शनकेन्द्र प्रेक्षा, 4. अनिमेष प्रेक्षा, 5. विचार प्रेक्षा, 6. अनुप्रेक्षा।

5.2.5. भाव– जीवन का छठा घटक तत्त्व है–भाव। हमारे इस स्थूल शरीर के भीतर एक और सूक्ष्म शरीर है–तैजस् शरीर। भावों का निर्माण इसी शरीर में होता है। यह मन को संचालित करता है तथा स्थूल शरीर में चित्त को प्रभावित करता है। चित्त मस्तिष्क के माध्यम से जीवन की सारी प्रक्रियाओं को प्रभावित व संचालित करता है। चित्त की शुद्धि और अशुद्धि का मानदण्ड है भाव की शुद्धि और अशुद्धि।

मानसिक स्वास्थ्य का भी मूल आधार है–भावात्मक स्वास्थ्य। प्रेक्षाध्यान की पद्धति में भाव–विशुद्धि के निम्न प्रयोग निर्दिष्ट हैं–1. लेश्या–ध्यान, 2. मैत्री की अनुप्रेक्षा, 3. करुणा की अनुप्रेक्षा, 4. सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा।

5.2.6. कर्म– जीवन का सातवां घटक तत्त्व है– कर्म। जीवन में जो कुछ होता है, वह आकस्मिक, अहेतुक या परिस्थितिजनक ही नहीं होता, कुछ घटनाएँ परिस्थितियों से प्रभावित हो सकती हैं किन्तु अधिकांश घटनाओं के पीछे कोई हेतु होता है और वह है– कर्म। कुछ रोग भी कर्म के कारण होते हैं। अनेक बार ऐसी परिस्थितियाँ सामने आती हैं जिसके कारणों को हम समझ नहीं पाते हैं परन्तु वह घटित हो जाती है। इसके पीछे कर्मशास्त्रियों ने कर्म को बहुत बड़ा कारण माना। कर्म की शक्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता परन्तु इसे सर्वोपरि भी नहीं माना जा सकता। इसमें परिवर्तन किया जा सकता है। कर्म को परिवर्तित करने के सूत्र हैं– 1. निर्विचार अथवा निर्विकल्प ध्यान, 2. अपाय विचय, 3. विपाक विचय, 4. लेश्या ध्यान, 5. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, 6. जप।

जीवन के अनगिनत रहस्यों को समझने और जीवन में परिवर्तन लाने के लिये इन सात पक्षों पर प्रेक्षाध्यान के प्रभाव का वैज्ञानिक उपकरणों एवं मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से अध्ययन करना ही जीवन विज्ञान का उद्देश्य, लक्ष्य और दृष्टिकोण है। जीवन को समग्रता से समझने के लिए उक्त सात बिन्दुओं पर ध्यान देना और उनके परिष्कार की चेष्टा करना मानवीय मूल्यों के विकास का प्रथम सोपान है।

5.2.7. चित्त– जीवन का पांचवा घटक है– चित्त। आत्मा एक ज्ञान सूर्य है। इस ज्ञान सूर्य से अनेक रश्मियाँ निकलती हैं। ज्ञान प्रकाश की एक रश्मि चित्त कहलाती है। चित्त अर्थात् चेतना की एक रश्मि हमारी चेतना से प्रभावित होती है और वह हमारे स्थूल शरीर को प्रभावित करती है। यह मस्तिष्क अथवा नाड़ी तन्त्र के माध्यम से जीवन की प्रत्येक क्रिया– शरीर, वाणी, मन को संचालित करता है। प्रेक्षाध्यान का उद्देश्य है– चित्त की विशुद्धि। चित्त की विशुद्धि के लिए निम्न प्रयोग निर्दिष्ट हैं–

1. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, 2. राग–द्वेष मुक्त क्षण का अनुभव, 3. शुद्ध चैतन्य का अनुभव, 4. निर्विचार प्रेक्षा, 5. ज्ञाता–द्रष्टा भाव का प्रयोग, 6. भाव–क्रिया।

चित्त की शुद्धि होने पर ही मनुष्य मादक वस्तुओं के सेवन, अपराध और अनावश्यक हिंसा से बच सकता है।

बोध प्रश्न–2

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये–

    1. जीवन विज्ञान की प्रविधियों से आप क्या समझते हैं, स्पष्ट करें।
    2. शरीर, मन और प्राण को व्याख्यायित करते हुए जीवन विज्ञान के आधार पर इनके प्रशिक्षण की विधि बताइये।
    3. जीवन विज्ञान के मूल अंग कौन–कौन से हैं? चर्चा करें।

5.3 जीवन विज्ञान के लाभ

5.3.1 व्यक्तित्व विकास में जीवन विज्ञान

5.3.1.1 व्यक्तित्व : अर्थ

व्यक्तित्व का अंग्रेजी अनुवाद Personality है, जो लेटिन शब्द Persona से बना है। परसोना शब्द का शाब्दिक अर्थ नकाब या मुखौटा होता है, जिसे नायक और नायिका नाटक करते समय अपने चेहरे पर लगाते हैं। इस शाब्दिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए व्यक्तित्व को बाहरी वेशभूषा तथा दिखावे के आधार पर परिभाषित किया गया। दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व से तात्पर्य वह जो दूसरों को दिखाई देता है, उससे है। जिस व्यक्ति का बाहरी दिखावा भड़कीला एवं आकर्षक होता था, उसे अच्छा व्यक्तित्व समझा जाता था लेकिन इस शाब्दिक अर्थ की लोकप्रियता तुरन्त समाप्त हो गई और बाद में व्यक्तित्व को विभिन्न सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों से मनोवैज्ञानिकों द्वारा परिभाषित किया गया।

- वुडवर्थ एवं मारक्विस के अनुसार व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यवहार ही व्यक्तित्व कहलाता है।
- डेशियल के अनुसार व्यक्तित्व व्यक्ति के संगठित व्यवहार, विशेषतः जैसा उसके साथियों द्वारा संगत रूप से बतलाया जाता है, का एक सम्पूर्ण तस्वीर होता है।
- गिलफोर्ड के अनुसार व्यक्तित्व शीलगुणों का एक समन्वित पैटर्न है।
- समग्र रूप से कहा जाए तो प्रत्येक व्यक्ति में कुछ विशेष गुण या विशेषताएं होती हैं। इन्हीं गुणों एवं विशेषताओं के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति एक–दूसरे से भिन्न होता है। व्यक्ति के इन गुणों का संगठन ही व्यक्तित्व कहलाता है।

जैसा कि हमने जाना जनसाधारण में व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति के बाह्य रूप से लिया जाता था परन्तु व्यक्तित्व का सम्बन्ध बाह्य एवं आंतरिक दोनों गुणों से है। वस्तुतः व्यक्तित्व विशेष लक्षणों का योग न होकर व्यक्ति के व्यवहार का समग्र रूप है। वह व्यक्ति के आचार–विचार, व्यवहार; क्रियाएं और गतिविधियों में झलकता है।

5.3.1.2 व्यक्तित्व के प्रकार

मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व को दो भागों में विभाजित किया–

सामान्य व्यक्तित्व और असामान्य व्यक्तित्व। सामान्य अर्थात् स्वस्थ व्यक्तित्व असामान्य अर्थात् अस्वस्थ व्यक्तित्व। स्वस्थ व्यक्तित्व ही विकसित व्यक्तित्व है। मनोचिकित्सकों के अनुसार एक स्वस्थ व्यक्ति में निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं–

5.3.1.3 संतुलित व्यक्तित्व

1. **पर्याप्त सुरक्षा की भावना –** एक स्वस्थ व्यक्ति में यह दृढ भावना रहती है कि उसका वर्तमान जीवन तथा भावी जीवन सुरक्षित और सुनिश्चित है।
2. **पर्याप्त आत्म–मूल्यांकन –** एक स्वस्थ व्यक्ति अपने आत्म–सम्मान व स्वाभिमान के सन्दर्भ में अपने आवेगों, आवश्यकताओं व आकांक्षाओं को नियमित व संतुलित करता है। उसकी इच्छाएँ सामाजिक मर्यादा की परिधि के अन्तर्गत ही रहती हैं।
3. **पर्याप्त स्फूर्ति व संवेगात्मक अभिव्यक्ति –** एक संतुलित व्यक्तित्व में अन्य व्यक्तियों के साथ पारस्परिक आधार पर संतोषप्रद, सुखद व सामाजिक संबंधों को बनाये रखने की योग्यता रहती है।
4. **जीवन की वास्तविकता के प्रति सजग –** स्वस्थ व्यक्ति जीवन संघर्ष में आने वाली कठिनाइयों, विपत्तियों, विफलताओं व कष्टों का साहसपूर्ण व धैर्यपूर्ण ढंग से सामना करते हुए देखा जाता है। वह इन सब स्थितियों से घबराता नहीं अपितु इन्हें जीवन का एक अभिन्न अंग ही मानता है।

5. **सीमित शारीरिक इच्छायें –** शारीरिक इच्छायें कभी सामाजिक मर्यादा की परिधि का उल्लघंन नहीं करती।

6. **पर्याप्त आत्म–ज्ञान –** एक स्वस्थ व्यक्ति अपनी इच्छाओं व लक्ष्यों को अपनी शारीरिक व मानसिक क्षमताओं तथा योग्यताओं के आधार पर सीमाबद्ध करने का निरन्तर प्रयास करता रहता है।

7. **अतीत के अनुभव से लाभ –** स्वस्थ व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों से लाभ उठाता है तथा उनके आधार पर अपने भावी जीवन को सुनियोजित करता है।

8. **बाह्यगामी उन्मुखता –** एक संतुलित व्यक्ति अत्यधिक आत्म केन्द्रित न होकर अपने समूह व अन्य समूहों के लोगों की ओर भी स्वतः ही उन्मुख रहता है। वह समूह व समाज की अपेक्षाओं को किसी बाह्य दबाव के कारण नहीं बल्कि स्वतः ही श्रद्धाभाव से उनका परिपालन करता है।

9. **समूह–संस्कृति से सापेक्षित मुक्तता–** एक सामान्य व्यक्ति अपने समूह की सांस्कृतिक परम्पराओं व धारणाओं के प्रति पूर्णरूपेण अपने व्यक्तित्व का आत्म–समर्पण नहीं कर देता बल्कि अपने वैयक्तिक व मौलिक विचारों को भी यथाशक्ति अभिव्यक्त करता है तथा इस उपक्रम में सामने आने वाले मतभेदों को सहर्ष स्वीकार भी कर लेता है।

जिस प्रकार सामान्य व्यक्तित्व को स्वस्थ, संतुलित एवं समायोजित व्यक्तित्व कहा जाता है, ठीक वैसे ही एक असामान्य व्यक्तित्व को अस्वस्थ एवं असन्तुलित व्यक्तित्व कहा जाता है। एक असंतुलित अर्थात् अविकसित व्यक्तित्व में मनोवैज्ञानिकों के अनुसार निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं–

5.3.1.4 असंतुलित व्यक्तित्व

1. अनुरूपता का अभाव – असंतुलित व्यक्ति प्रचलित सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं, मर्यादाओं, मूल्यों और आदर्शों को सही न मानकर अधिकांशतः अपनी स्वयं की व्यक्तिगत आचार–संहिता को ही ठीक समझता है।

2. असुरक्षा की भावना– जीवन की सामान्य स्थितियों, कठिनाइयों एवं दायित्व के परिपालन के लिए आवश्यक आत्म विश्वास नहीं होता। उसके अचेतन मन में असुरक्षा की भावना निरन्तर बनी रहती है।

3. दुश्चिन्ता – प्रायः दुखद घटनाओं, घोर निराशाओं एवं कुण्ठाओं से घिरा हुआ रहता है। निराशावादिता, साहसहीनता व दुश्चिन्ता उसके अचेतन में एक प्रकार से घर कर लेती है।

4. व्यक्तिगत अपरिपक्वता–उसका व्यवहार साधारणतः उसकी शिक्षा, आयु व सामाजिक स्थिति के अनुकूल न होकर कुछ निम्न स्तर का रहता है। उसकी संवेगात्मक अनुभूति व अभिव्यक्ति उद्दीपक स्थिति की उपयुक्त सीमाओं में रहकर प्रायः असन्तुलित ही रहती हैं। उसकी क्रियाएं क्षणिक आवेगों से प्रभावित रहती हैं।

5. बौद्धिक असमर्थता – बौद्धिक न्यूनता के कारण प्रायः हीनता की ग्रन्थि से पीड़ित रहता है।

6. वास्तविकता से पलायन – वह जीवन के सामान्य संघर्षों, दैनिक कठिनाइयों, दुखद विफलताओं व आवश्यक दायित्वों से मुक्त रहने का प्रयास करता है।

7. आत्म–तिरस्कार – ऐसे व्यक्ति प्रायः अपने आपको निजी मापदण्ड से अपूर्ण व अपर्याप्त समझते हैं। कभी–कभी अपने आपको घृणित व पतित भी समझते हैं।

8. मानसिक शक्ति का ह्रास – इनकी शारीरिक व मानसिक शक्ति अनेक साधारण कार्य, तुच्छ इच्छाओं, अनावश्यक उलझनों तथा निरर्थक संघर्षों में ही नष्ट होती है।

इस प्रकार असंतुलित व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रायः अस्त–व्यस्त ही रहता है।

फिर भी इस सन्दर्भ में हमारे सामने एक विचारणीय तथ्य यह है कि जिस प्रकार सन्तुलित व्यक्तित्व के विकास में जीवन की अपेक्षाकृत सुखद और अनुकूल परिस्थितियों का विशेष योगदान रहता है, ठीक उसी प्रकार असंतुलित व्यक्तित्व भी अधिक दुखद व प्रतिकूल परिस्थितियों की ही देन है। इनके अलावा ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण में स्वयं के भावों का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है। अतः हमें यहां यह भी समझ लेना चाहिए कि एक असन्तुलित या अविकसित व्यक्तित्व को बदला जा सकता है। अनुकूल वातावरण देकर व्यक्तित्व जिस स्तर पर है उससे ऊंचा उठाया जा सकता है।

5.3.1.5 व्यक्तित्व विकास में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

जैसा कि हमने जाना कि व्यक्तित्व दो प्रकार के होते हैं– संतुलित एवं असंतुलित। दूसरे शब्दों में कहे तो स्वस्थ (विकसित) एवं अस्वस्थ (अविकसित)। स्वस्थ व्यक्ति अस्वस्थ हो सकता है तो अस्वस्थ व्यक्ति भी स्वस्थ हो सकता है। कोई भी व्यक्ति नहीं चाहता कि वह असंतुलित कहलाए। सभी अपने व्यक्तित्व का विकास चाहते हैं। स्वस्थ व्यक्तित्व निर्माण के लिए जीवन विज्ञान निम्नलिखित बातों पर ध्यान देता है–

1. शक्ति की पहचान	2. सम्यक् दृष्टि का विकास	3. अन्तर्दृष्टि का विकास
4. तनाव–मुक्ति	5. सर्वांगीण विकास	6. वृत्तियों से छुटकारा
7. सकारात्मक सोच	8. कार्यक्षमता का विकास	9. नशामुक्त जीवन

1. **शक्ति की पहचान**– जीवन विज्ञान के प्रयोगों से सबसे पहले व्यक्ति यह जानने में समर्थ होता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अनंत शक्ति है, वह एक सामान्य व्यक्ति से विद्वान बन सकता है। वस्तुतः व्यक्ति कैसा बनेगा? यह सब निर्भर है– शक्ति के जागरण पर जो व्यक्ति अपनी शक्तियों को जागृत कर लेता है, वह बहुत कुछ उपलब्ध कर सकता है और जो अपनी शक्तियों को नहीं पहचान पाता, उसके पास सब कुछ होते हुए भी वह कुछ नहीं कर पाता, जीवन व्यर्थ चला जाता है, असफलता ही हाथ लगती है। आवश्यकता है, व्यक्ति अपने भीतर छिपी हुई शक्ति को पहचानें, अपनी क्षमताओं को जानें, अपनी योग्यताओं को पहचानें। ज्यों–ज्यों व्यक्ति अपनी क्षमता को पहचानने लगता है त्यों–त्यों उसके भीतर स्वस्थता के लक्षण सुरक्षा, स्फूर्ति, आत्म मूल्यांकन आदि प्रकट होने लगते हैं।

2. **मिथ्यादृष्टि का परिष्कार**– कहा जाता है कि आज का युग समस्याओं का युग है। भाई–भाई लड़ रहे हैं, पिता–पुत्र की बनती नहीं, माँ का बेटे पर विश्वास नहीं। इन सबका एक कारण है– मिथ्या दृष्टिकोण। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सही समझता है, दूसरे पर सही न होने का आरोप लगाता है। आवश्यकता है हमारा व्यवहार बदले और सद्–असद् का ज्ञान हो। व्यवहार परिष्कार के लिए मिथ्या दृष्टिकोण को बदलना अनिवार्य है। जब तक दृष्टिकोण नहीं बदलेगा तब तक व्यक्तित्व विकास की आशा नहीं की जा सकती।

3. **अन्तर्दृष्टि का विकास**– व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं–बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी व्यक्ति आज समाज में यत्र–तत्र–सर्वत्र व्याप्त हैं और उन्हीं के कारण आज स्वस्थ समाज रुग्ण समाज में बदल रहा है। जरूरी है कि व्यक्ति अन्तर्मुखी बने। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में– रहें भीतर, जीएं बाहर। जो व्यक्ति भीतर रहते हुए बाहर जीता है, वह जीवन की सच्चाइयों को समझता है और वैसा ही कार्य करता है जिससे समाज में शान्ति, सहिष्णुता, सौहार्द, प्रेम का वातावरण बना रहे। अन्तर्मुखी चेतना के लिए आवश्यक है– अन्तर्दृष्टि का विकास। जीवन विज्ञान की सहायता से व्यक्ति अन्तर्दृष्टि का विकास कर अपने व्यक्तित्व को ऊंचा उठा सकता है।

4. **तनाव–मुक्ति**– आज की ज्वलंत समस्या है– तनाव। एक छोटे बालक से लेकर वृद्ध तक सभी तनाव से ग्रस्त हैं। किसी को अर्थ का तनाव, किसी को पारिवारिक तनाव, किसी को मानसिक तो किसी को स्वास्थ्य का तनाव है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में तनाव से ग्रस्त है। तनाव का एक मुख्य कारण है– अभाव। जहां अभाव है, वहां तनाव है। वह व्यक्ति सुखी रह सकता है जो अभाव में रहकर भी खुश रहे। जीवन विज्ञान विद्यार्थी को सिखाता है कि अभाव में तनाव मुक्त कैसे रहा जाए? तनाव व्यक्ति की शक्ति को क्षीण करता है, इसीलिए तनाव–मुक्त जीवन नितांत अपेक्षित

है। जीवन विज्ञान की सहायता से व्यक्ति अपने आप को तनाव की अवस्था में भी तनावमुक्त रख सकता है। तनाव की परिस्थिति में भी अपने आपको प्रसन्न रख पाना स्वस्थ व्यक्ति की पहचान है।

5. **सर्वांगीण व्यक्तित्व**– सर्वांगीण व्यक्तित्व ही विकसित व्यक्तित्व है। जीवन विज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व विकास के लिए व्यक्तित्व के बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक चारों आयामों का विकास आवश्यक है परन्तु वर्तमान शिक्षा प्रणाली में शारीरिक और बौद्धिक विकास पर ध्यान केन्द्रित हो रहा है, इस बौद्धिकता से निःसन्देह हमें अच्छे विशेषज्ञ मिल रहे हैं फिर भी यह व्यक्तित्व का पूरा विकास नहीं है। जीवन विज्ञान एक ऐसा उपक्रम है जिसमें शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक और भावनात्मक विकास के चारों आयामों पर ध्यान दिया जाता है जिससे व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो सके।

6. **वृत्तियों से छुटकारा–** प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ वृत्तियां होती हैं जैसे– काम, क्रोध, आवेश, अहंकार आदि। ये वृत्तियां व्यक्तित्व को विकृत बनाती हैं। इन वृत्तियों को ध्यान, अनुप्रेक्षा आदि के द्वारा कम किया जा सकता है। जीवन–विज्ञान एक प्रायोगिक शिक्षा है। इसके प्रयोगों के द्वारा वृत्तियों से छुटकारा सम्भव है।

7. **सकारात्मक सोच**– सकारात्मक सोच का होना व्यक्ति की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण बिंदु है। जीवन विज्ञान एक ऐसा विषय है जिसकी सहायता से सकारात्मक सोच का विकास किया जा सकता है। जब व्यक्ति की सोच सकारात्मक होती है, तब वह कभी तनाव ग्रस्त नहीं होता। सकारात्मक सोच से ही अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

8. **नशा–मुक्ति**– जीवन विज्ञान चारित्रिक एवं नैतिक मूल्यों के विकास के लिए एक आवश्यक शिक्षा पद्धति है। आज अनेक लोग ऐसे हैं जो किसी न किसी प्रकार का नशा करते हैं। नशा करने वालों का व्यक्तित्व कभी भी ऊंचा नहीं उठ सकता। इसलिए नशामुक्त जीवन हो यह अत्यन्त अपेक्षित है। नशा करने वालों की आदतों में परिवर्तन लाने के लिए जीवन विज्ञान एक अच्छा उपक्रम है। जीवन विज्ञान के प्रयोगों द्वारा हम अपने जीवन को नशा–मुक्त कर सकते हैं। प्रेक्षाध्यान के प्रयोग में अप्रमाद केंद्र पर ध्यान करने से नशा–मुक्ति संभव है।

9. **कार्यक्षमता का विकास**– प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों द्वारा कार्यक्षमता का विकास होता है। जब हम भीतर झांकते हैं तो हमें हमारी क्षमता का पता चलता है। आत्म विश्वास के द्वारा भी कार्यक्षमता का विकास होता है। आत्म–विश्वास एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने कार्य को कुशलतापूर्वक कर सकता है। जीवन विज्ञान में कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए अनेक उपाय निर्दिष्ट हैं। कार्यक्षमता के विकास के लिए एकाग्रता भी आवश्यक तत्त्व है। एकाग्रता का अर्थ है– जो काम हाथ में है उसी में चित्त को लगाना। एकाग्रता एक ऐसी शक्ति है जिसके बलबूते पर हम किसी भी कार्य को आसानी से कर सकते हैं। बिना एकाग्रता हम किसी भी लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए एकाग्र होना पड़ता है। जीवन विज्ञान के द्वारा हम अपनी एकाग्रता को बढ़ा सकते हैं। यह एक प्रायोगिक पद्धति है। प्रेक्षाध्यान में श्वास प्रेक्षा एकाग्रता को बढ़ाने का सरल एवं सशक्त उपाय है। अतः जीवन विज्ञान एकाग्रता लाने में सहायक हैं जो व्यक्तित्व विकास के लिए बहुत आवश्यक है।

5.4 शिक्षा में जीवन विज्ञान

5.4.1–2 शिक्षा का अर्थ एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षा

किसी भी देश या राष्ट्र के विकास में शिक्षा का अपना महत्त्व है। शिक्षा ही किसी राष्ट्र की उन्नति का साधन है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विद्यालय एवं विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई है। विद्यालयों एवं विद्यार्थियों की बढ़ती संख्या को देखकर स्पष्ट है कि भारत सरकार भी शिक्षा के प्रचार–प्रसार में निरन्तर प्रयासरत है। इसीलिए आज शिक्षा का स्तर बहुत ऊंचा हो चुका है। परिणामस्वरूप आज एक से एक अच्छे डॉक्टर, इंजीनियर, तकनीशियन, कलाविद् तैयार हुए हैं।

शिक्षा विकास का अपरिहार्य अंग है। अंधविश्वासों, सामाजिक रूढियों, अनुचित मान्यताओं के परिष्कार का माध्यम शिक्षा ही है। साथ ही आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में जीवनगत विकृतियों के परिष्कार का माध्यम भी शिक्षा ही है। वर्तमान शिक्षा में इस ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इसलिए उसने अनेक विद्वान तो तैयार कर दिये परन्तु उनमें दायित्व बोध, दूसरों के प्रति करुणा, संवेदनशीलता, प्रतिकूलताओं में सम रहना, सहिष्णुता, अनुशासन आदि मूल्यों का विकास नहीं कर पाई है। शिक्षा तभी सुशिक्षा हो सकती है जब वह आजीविका और बौद्धिक ज्ञान के साथ पारंपरिकता में दक्षता लाए। एक बालक के जीवन निर्माण में शिक्षा का बहुत बड़ा हाथ रहता है। शिक्षा में ही ऐसी शक्ति है जो बालक के भीतर संस्कारों के बीज वपन कर सकती है। इसलिए आज शिक्षा जगत् में भी जागृति आवश्यक है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार मनुष्य का जीवन शरीर, श्वास, मन, प्राण, भाव, कर्म, चित्त आदि का योग है। सम्यक् रूप से जीवन निर्वाह करने के लिए इन सातों की परिचर्या आवश्यक है परन्तु वर्तमान शिक्षा ने केवल शरीर एवं शरीर के पोषण के लिए भोजन पर ध्यान दिया है। शिक्षा का यह उद्देश्य विद्यार्थी के साथ सही मायने में न्याय नहीं करता। एक विद्यार्थी वर्तमान शिक्षा को ग्रहण कर बहुत बड़ा आदमी तो बन जाता है, बहुत सारे पैसे भी कमा लेता है परन्तु प्रतिकूल परिस्थिति का छोटा सा झटका उसे निराशा (डिप्रेशन), कुण्ठा (फ्रस्ट्रेशन) के द्वार पर लाकर खड़ा कर देता है। कभी–कभी वह आत्महत्या तक करने की सोचने लगता है।

आज शिक्षा के क्षेत्र में ऐसे उपक्रमों की आवश्यकता है जिनकी सहायता से विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास हो सके। वह किसी भी परिस्थिति में अपना समायोजन कर सके। ऐसे उपक्रमों की आवश्यकता है जो विद्यार्थी के साथ शिक्षकों का भी संतुलित विकास कर सके। जीवन विज्ञान एक ऐसा ही उपक्रम है जो शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों कें संतुलित विकास की ओर ध्यान देता है।

5.4.3 शिक्षा में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

जीवन विज्ञान भारतीय जन–जीवन की आवश्यकताओं, आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति, जीवन मूल्य व सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप शिक्षा में परिवर्तन की चिर अभिलषित अभिलाषा के रूप में शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुआ है। इसका आधारभूत कारण है– भाव परिवर्तन द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण। भाव परिवर्तन जीवन विज्ञान का मुख्य आधार है। निषेधात्मक भावों की जगह विधेयात्मक भावों को चरित्र का अंग बनाना, बुरी आदतों को मिटाकर अच्छी आदतों का निर्माण करना, शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनावों से मुक्त रहकर स्वस्थ जीवन जीना, अपनी शैली और कुशलता को बढ़ाना आदि ऐसे विषय हैं जिनसे आज का विद्यार्थी अछूता है, उनका प्रशिक्षण देना जीवन विज्ञान का मूल कार्य है। जीवन विज्ञान की शिक्षा के क्षेत्र में कुछ उपयोगिताओं को हम निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं।

1. **अनुशासन का विकास–** अनुशासन का सीधा सा अर्थ है– नियन्त्रण। नियन्त्रण दो प्रकार से होता है–1. परानुशासन– दूसरों के द्वारा किया जाने वाला अनुशासन, 2. स्वानुशासन– स्वयं अपने ऊपर किया जाने वाला अनुशासन। जब तक व्यक्ति स्वयं पर अनुशासन करना नहीं जानता तब तक उस पर दूसरे अनुशासन करें, उसे गलत कार्य करने से रोके ऐसी अपेक्षा रहती है। इस सन्दर्भ में शिक्षकों के द्वारा विद्यार्थियों पर किया जाने वाला नियन्त्रण परानुशासन है। परानुशासन या दूसरों के द्वारा शासित होना किसी को अच्छा नहीं लगता परन्तु स्वानुशासन से पूर्व इसकी अपेक्षा अपरिहार्य है। विद्यार्थियों में परानुशासन को सहन करने की क्षमता के विकास के साथ–साथ स्वानुशासन की क्षमता जागे इसके लिए शिक्षा में जीवन विज्ञान को जोडऩा बहुत उपयोगी है।
2. **सृजनात्मक शक्ति का विकास–** सृजनात्मक शक्ति के विकास का अर्थ है–जो पहले से चला आ रहा है, उससे हटकर कुछ नया और रचनात्मक कार्य करने की क्षमता का विकास। यह क्षमता कुछ विद्यार्थियों में सहज विकसित होती है और कुछ में इसका विकास किया जा सकता है। जीवन विज्ञान के अन्तर्गत दर्शनकेन्द्र पर किये जाने वाले अन्तर्दृष्टि जागरण के प्रयोग सृजनात्मक शक्ति के विकास के लिए बहुत उपयोगी हैं। आज का युग प्रतिस्पर्धा का युग है। इस युग में जिसकी

जितनी सृजनात्मकता है वह उतना ही प्रगति कर सकता है। अतः शिक्षा के क्षेत्र में ऐसे प्रयोग जुड़े जिससे विद्यार्थियों की सृजनात्मक शक्ति का विकास हो सके।

3. **स्मृति का विकास–** आज विद्यार्थियों की सबसे बड़ी समस्या है–विस्मृति। छोटी उम्र में भी याद करने की समस्या बनी रहती है। यदि बड़ा काम करना है, स्वयं का एवं राष्ट्र का विकास करना है तो स्मृति का विकास बहुत जरूरी है। स्मृति का विकास न केवल विद्यार्थियों के लिए अपितु शिक्षकों के लिए भी बहुत आवश्यक है। जीवन विज्ञान एक प्रायोगिक शिक्षा–पद्धति है। इसके विविध प्रयोग प्राणायाम, ध्वनि एवं मुद्रा व्यक्ति के मस्तिष्कीय क्षमता को विकसित करने में लाभदायी हैं। इसके अन्तर्गत ऐसे प्रयोग करवाये जाते हैं जिससे व्यक्ति के मस्तिष्क के वे प्रकोष्ठ, न्यूरोन्स प्रभावित होते हैं जो व्यक्ति की स्मरण शक्ति के विकास के लिए उत्तरदायी होते हैं।

4. **पक्षपात रहित व्यवहार का निर्माण–** किसी भी देश, समाज व राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक है– विद्यार्थियों का सम्यक् निर्माण। बहुत बार शिक्षा के क्षेत्र में भी पक्षपात देखा जाता है। वे विद्यार्थी ज्यादा अंक प्राप्त कर लेते हैं जो योग्य नहीं हैं परन्तु उनका सम्बंध शिक्षकों से है या वह शिक्षक के चहेते हैं जिसके कारण योग्य विद्यार्थी अन्दर से टूट जाते हैं। अतः आवश्यक है कि शिक्षकों का व्यवहार न्यायपूर्ण हो। शिक्षक और विद्यार्थियों के बीच प्रेम का वातावरण बना रहे। विद्यार्थी, शिक्षक का सम्मान करें, अनुशासन में रहें और शिक्षक विद्यार्थियों की योग्यता का अंकन करें, उन्हें आगे बढ़ाने का प्रयास करें, उन्हें वात्सल्य दें। इसके लिए पक्षपात रहित व्यवहार का निर्माण जरूरी है जो जीवन विज्ञान से संभव है। अनेकान्त का व्यवहारिक प्रयोग शिक्षक के स्वस्थ व्यवहार निर्माण के लिए बहुत जरूरी है।

5. **आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण–** कोरा बौद्धिक ज्ञान विद्यार्थियों को सब कुछ दे सकता है परन्तु सच्ची शांति जिसकी तलाश में वह दिन–रात घूम रहा है, नहीं दे सकता। कोरे बौद्धिक विकास से व्यक्ति इंजीनियर, वैज्ञानिक, डॉक्टर आदि बन जाने पर भी अनुकूल–प्रतिकूल स्थिति में अपना मानसिक संतुलन नहीं रख पाता है। वह भावावेश में आकर बहुत बार गलत व्यवहार कर लेता है। संतुलित व्यक्तित्व के लिए भावों पर नियन्त्रण रखना बहुत जरूरी है। भावों के नियन्त्रण के लिए व्यक्ति को अध्यात्म की ओर अग्रसर होना जरूरी है। इसके लिए जीवन विज्ञान एक सम्यक् कदम है क्योंकि जीवन विज्ञान एक आध्यात्मिक शिक्षा है। अध्यात्म का अर्थ है आत्मा के निकट रहना जीवन विज्ञान के द्वारा शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों में अध्यात्म के बीज वपन किये जा सकते हैं।

6. **संस्कार–निर्माण–** आज हमने तकनीकी के क्षेत्र में तो बहुत प्रगति की है परन्तु संस्कृति एवं संस्कारों के क्षेत्र में बहुत ह्रास भी हुआ है। प्रत्येक बच्चे के माता–पिता चाहते हैं कि उनका बच्चा सुसंस्कारित हो, अनुशासनप्रिय हो परन्तु ऐसा हो नहीं रहा है। बच्चों में उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है कारण शिक्षा का सम्यक् उपयोग न किया जाना है। प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में प्राथमिक शिक्षा का अपना महत्त्व है क्योंकि शिक्षा ही बालक के व्यक्तित्व निर्माण का सम्यक् साधन है। एक समय था जब भारतवर्ष शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी था। शनैः शनैः शिक्षा पद्धतियों में परिवर्तन एवं ह्रास होने के साथ–साथ ब्रिटिश शासनकाल में शासन की नीतियों का प्रभाव केवल शिक्षा पर ही नहीं अपितु उसके प्रसार पर भी पड़ा। धीरे–धीरे शिक्षा ने अपने प्राचीन रूप को बदल कर वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया। अपेक्षा है शिक्षा के इस वर्तमान स्वरूप में पुनः बदलाव हो। बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जाए जिससे बच्चों के बौद्धिक विकास के साथ–साथ संस्कारों का भी विकास हो। शिक्षा के साथ जीवन विज्ञान को जोड़ा जाए तो बच्चों को संस्कारित किया जा सकता है। संस्कार निर्माण के लिए जीवन विज्ञान अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि यह एक मूल्यपरक शिक्षा है।

5.5 प्रशासन में जीवन विज्ञान

5.5.1 प्रशासन : अर्थ

प्रशासन में जीवन विज्ञान की उपयोगिता को समझने से पूर्व प्रशासन क्या है? किसे कहते हैं? समझना आवश्यक है।

प्रशासन के लिए अंग्रेजी में Adminitration शब्द प्रयुक्त होता है जो लेटिन भाषा के दो शब्द AD+

ministrare से बना है। फ्रेंच में यह शब्द Administer तथा पुरानी अंग्रेजी में Admiststren रहा है। जिसका अर्थ है– काम करवाना, या व्यक्तियों की देखभाल करना या कार्यों की व्यवस्था करना।

ऑक्सफोर्ड शब्दकोष में Adminitration को परिभाषित करते हुए कहा गया–The ectivities that are done by order to plan, orgnizae and run a bussiness school or other institution.

प्रशासन के सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने विचार प्रस्तुत किये हैं–

उ जैड ए विग के अनुसार– प्रशासन एक चैतन्यपूर्ण ध्येय की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला नियोजित कार्य है।

उ पिफनर एवं प्रेस्थान के अनुसार– वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय तथा भौतिक संसाधनों के संगठन और संचालन को प्रशासन कहते हैं।

उ विलियम न्यूमैन के अनुसार– कुछ सामान्य लक्ष्यों की दिशा में समूहों के प्रयासों का मार्गदर्शन, नेतृत्व तथा नियन्त्रण प्रदान करना ही प्रशासन है।

सम्पूर्ण प्रशासन को प्रायः दो दृष्टिकोणों से समझने का प्रयास किया जाता है– 1. प्रबंध दृष्टिकोण (Managerial View) 2. एकीकृत दृष्टिकोण (Integral View)

प्रबंधकीय दृष्टिकोण के अन्तर्गत प्रशासन का तात्पर्य उन्हीं गतिविधियों या व्यक्तियों के कृत्यों से लगाया जाता है जो प्रबंध से सम्बन्धित कार्य करते हैं। वास्तव में प्रबन्ध किन्हीं निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समस्त प्रकार के संसाधन जैसे मशीन, मनुष्य, प्रविधि, धन तथा तकनीक इत्यादि को व्यवस्थित, समन्वित तथा नियन्त्रित करने की प्रक्रिया है। प्रशासन में नियन्त्रण, समन्वय तथा व्यवस्था बनाये रखने का कार्य उच्च अधिकारी अथवा प्रबंधक करते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार एक लिपिक या सहायक कर्मचारी प्रशासन के भाग नहीं कहला सकते हैं जबकि दूसरी ओर एकीकृत दृष्टिकोण के अनुसार प्रशासन का अर्थ उन सभी क्रियाओं से है जिनका संचालन एक निश्चित क्षेत्र (संगठन) की नीतियों तथा कार्यों के क्रियान्वयन से होता है। इस दृष्टिकोण से संगठन के उच्च पदाधिकारी तकनीकी कार्मिक, लिपिकीय वर्ग तथा श्रमिकों सहित सभी सहायक कर्मचारी मिलकर प्रशासन कहलाते हैं।

किसी भी देश व राष्ट्र के विकास के लिए उस देश के विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, कम्पनियों का प्रशासन सक्षम एवं स्वस्थ होना बहुत जरूरी है। प्रशासनिक कार्यों को संचालन करने वाले चाहे उच्च पदाधिकारी हों या सामान्य कर्मचारी यदि किसी भी रूप में अक्षम एवं अस्वस्थ हैं तो कार्य का संचालन सही ढंग से नहीं हो सकता। कार्य का परिणाम बहुत ऊंचा नहीं हो सकता है। समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए प्रशासनिक कार्यों को करने वालों को विनम्र, संवेदनशील, नैतिक, कार्यकुशल, सदाचारी होना चहिए। जीवन विज्ञान के द्वारा उनमें मौलिक परिवर्तन लाया जा सकता है।

5.5.2 प्रशासन में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

1. **संवेदनशीलता–** प्रशासकों को सफल प्रशासन के लिए सहिष्णु, विनम्र तथा नैतिक होने के साथ–साथ संवेदनशील होना बहुत जरूरी है। जब तक प्रशासक दूसरों की समस्याओं को नहीं समझता जब तक दूसरों के प्रति संवेदनशील नहीं होता, वह अच्छा प्रशासक नहीं बन सकता। निदेशक श्री पुखराज सालेचा के शब्दों में–प्रत्येक अधिकारी को संवेदनशील, समाज के प्रति समर्पित एवं तनाव से मुक्त रहकर समय पर सही निर्णय लेने वाला होना चाहिए। यदि प्रशासन में जीवन

विज्ञान को जोड़ा जाए तो प्रशासनिक व्यक्तियों में परिवर्तन लाया जा सकता है। जीवन विज्ञान एक प्रायोगिक शिक्षा पद्धति है। प्रयोगों से सब कुछ सम्भव है यदि व्यक्ति इन प्रयोगों को करके देखे तो वह स्वयं अनुभव करने लगेगा कि परिवर्तन घटित हो रहा है।

2. **कर्त्तव्य के प्रति जागरूकता**– आज कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहने वाले बहुत कम मिलेगें। अधिकांश व्यक्ति अपने कार्यालय या विद्यालय के कार्यों को इसलिए करते हैं कि उन्हें तनख्वाह मिलती है। इसके अलावा संस्थान या देश का विकास उनके लिए कोई मायने नहीं रखता। यह सोच सही नहीं है। यदि अधिकारी अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक नहीं रहेगा तो निश्चित रूप से इसका प्रभाव समाज, संस्थान व देश के विकास पर पड़ेगा। कर्त्तव्य का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का प्रथम कर्त्तव्य है। जीवन विज्ञान एक मूल्यपरक शिक्षा है, इसके द्वारा मूल्यों का विकास सम्भव है। जीवन विज्ञान और प्रेक्षाध्यान के प्रयोग व्यक्ति की सृजनात्मक शक्ति का विकास करते हैं और उसे कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करते हैं। कर्त्तव्य की अनुप्रेक्षा प्रशासनिक क्षेत्रों में कार्य करने वालों के लिए आवश्यक है।

3. **एकाग्रता–** एकाग्रता का अर्थ है– जो काम हाथ में लें उसी में चित्त को लगाना। एकाग्रता एक ऐसी शक्ति है जिसके सहारे हम किसी भी कार्य को आसानी से कर सकते हैं। एकाग्रता के बिना हम अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। लक्ष्य की पूर्ति के लिए एकाग्र होना पड़ता है। जीवन विज्ञान के द्वारा हम अपनी एकाग्रता को बढ़ा सकते हैं। प्रेक्षाध्यान में श्वास प्रेक्षा एकाग्रता को बढ़ाने का सरल एवं सशक्त उपाय है। अतः जीवन विज्ञान यदि प्रशासन में हो तो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य पथ से विचलित नहीं होंगे और अपने संस्थान के कार्यों को नए एवं अच्छे ढंग से कर पाऐंगे।

4. **नैतिकता का विकास**– एक सफल प्रशासक का नैतिक व ईमानदार होना, उसके व्यक्तित्व को बहुत प्रभावित करता है, यदि एक प्रशासक में नैतिकता का गुण विकसित हो जाए तो वह समाज को भ्रष्टाचार, अत्याचार आदि बुराइयों से बचा सकता है। नैतिकता प्रशासनिक सेवाओं की रीढ़ है। उसके अभाव में प्रशासन की जो स्थिति है उसके परिणाम भोगने को सभी विवश हैं। व्यवस्था का ढांचा बाहर से कितना ही सुन्दर हो किन्तु जो व्यवस्था का संचालक है वह कुशल, तटस्थ अपने आवेगों पर नियन्त्रण रखने वाला तथा नैतिक हो तभी वास्तविक सुन्दरता आ सकती है। जीवन विज्ञान एक मूल्यपरक शिक्षा है। जीवन विज्ञान को प्रशासनिक क्षेत्र में लागू किया जाए तो प्रत्येक अधिकारी एवं कर्मचारी में अहिंसा, सदाचार, नैतिकता, समन्वय आदि नैतिक गुण विकसित हो सकते हैं।

5. **आत्म–विश्वास में वृद्धि–** प्रशासकों में आत्म–विश्वास का होना बहुत आवश्यक है। व्यक्ति में आत्म–विश्वास होता है तो वह अपने कार्य को कुशलतापूर्वक कर सकता है। किसी भी कार्य को करने के लिए आत्मविश्वास का होना आवश्यक है। जीवन विज्ञान एक सैद्धान्तिक व प्रायोगिक शिक्षा है, इसमें सिद्धान्तों की प्रेरणा दी जाती है और प्रयोगों के द्वारा उन्हें जीवन में अंगीकृत किया जाता है। जब इन सिद्धांतों को व्यक्ति जीवन में अपना लेता है तो उसके आत्म–विश्वास में वृद्धि हो जाती है और वह अपना कार्य पूर्ण विश्वास के साथ कर सकता है।

6. **तनाव–मुक्ति**– व्यक्ति जैसे–जैसे भौतिकता की ओर कदम बढ़ाता है, उसका आकर्षण जैसे–जैसे बाहर की ओर बढ़ता है, चंचलता बढ़ती चली जाती है, मन अशांत हो जाता है। मन की अशांति ही तनाव का कारण बन जाती है। तनाव आज की एक ज्वलंत समस्या है। तनाव से ग्रसित अधिकारी हो या कर्मचारी अपने कर्त्तव्य के साथ न्याय नहीं कर सकते। चूंकि तनाव व्यक्ति की शक्ति को क्षीण कर देता है। इसलिए तनाव मुक्त जीवन अत्यन्त अपेक्षित है। जीवन विज्ञान के द्वारा व्यक्ति अपने आपको तनाव की अवस्था में भी तनाव मुक्त रख सकता है।

बोध प्रश्न–1

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये–

1. परिवार किसे कहते हैं? स्पष्ट करते हुए पारिवारिक समस्याओं पर अपने विचार प्रस्तुत करें।
2. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की स्थिति स्पष्ट करते हुए शिक्षा में जीवन विज्ञान की उपयोगिता बताइये।
3. प्रशासनिक क्षेत्र में जीवन विज्ञान के महत्त्व को व्याख्यायित कीजिए।

2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर हाँ या ना में दीजिए–

1. व्यक्तित्व के दो प्रकार हैं।
2. जिसमें सुरक्षा की भावना नहीं होती वह सन्तुलित व्यक्तित्व है।
3. आत्म–तिरस्कार की भावना अविकसित व्यक्तित्व की पहचान है।
4. सृजनात्मक शक्ति के विकास का अर्थ है कुछ नया करने की क्षमता का विकास।
5. प्रशासक के लिए आवश्यक गुण है– संवेदनशीलता।
6. तनाव का एक कारण है–अभाव।

5.6 चिकित्सा में जीवन विज्ञान

महान् चिंतक एवं लेखक डॉक्टर जॉनसन ने कहा–To preserve health is a moral and religious duty, for health is a basis of all social virtuess- we can no longer be useful when not longer. अर्थात् स्वास्थ्य को बनाए रखना एक नैतिक एवं धार्मिक कर्त्तव्य है क्योंकि स्वास्थ्य ही सामाजिक सद्‌गुणों का आधार है– अस्वस्थ अवस्था में हम उपयोगी नहीं रह पाते। संस्कृत में भी एक कहावत है– शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। अतः स्वास्थ्य को बनाए रखना जहां व्यक्ति के निजी तथा पारिवारिक हित में है, वहां समाज तथा देश के लिए भी लाभकारी है।

इसीलिए जब से मनुष्य का सभ्य समाज के रूप में विकास हुआ है तब से ही चिकित्सक लगातार इस कोशिश में हैं कि अधिक से अधिक प्रभावशाली चिकित्सा पद्धतियों तथा औषधियों की खोज की जाए ताकि मनुष्य लम्बे समय तक निरोग रह सके।

पुरातन काल से लेकर आधुनिक समय तक शरीर के अनेक रोगों तथा विकारों को दूर करने के लिए प्राकृतिक चिकित्सा, आयुर्वेद, एक्युप्रेशर, शिआत्सु, होम्योपैथी, तन्त्र–मन्त्र आदि अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ प्रचलित हुई हैं।

5.6.1 चिकित्सा विज्ञान

चिकित्सा एक बहुत बड़ा विज्ञान है। इस विज्ञान का लाभ करोड़ों, अरबों लोग उठा रहे हैं। स्वास्थ्य लाभ ही इस विज्ञान का विशिष्ट महत्त्व है पर आश्चर्य इस बात का है कि चिकित्सा की नई विधियों, नये प्रयोग व नये आविष्कार होने पर भी मनुष्य का स्वास्थ्य गिरता जा रहा है।

5.6.2 बीमारी के कारण

कुछ लोग मानते हैं कि रोग का सबसे बड़ा कारण तनाव है। मस्तिष्क में तनाव, मन में तनाव, स्नायुओं में तनाव, मांसपेशियों में तनाव, तनाव में व्यक्ति उलझा रहता है। इनसे नई बीमारियॉ पैदा होती रहती हैं। कुछ योगाचार्यों के अनुसार मनुष्य का शरीर केवल भौतिक पदार्थों का जोड़ मात्र नहीं है जो केवल अस्थि, मांस, रक्त, स्नायुओं आदि से ही बना हुआ हो बल्कि यह एक आत्मा, मन एवं भौतिक शरीर का संयुक्त रूप है। इसकी जीवन्तता का मुख्य कारण आत्मशक्ति है जिसका सारा कार्य प्राणशक्ति और मन

की शक्ति के आधार पर चलता है। शरीर के सुसंचालन के लिए यही मुख्य घटक है। भौतिक शरीर का संचालन आध्यात्मिक शक्तियों की सहायता से हो रहा है, इसलिए इन तीनों का सहयोग ही इसकी क्रियाशीलता व सुव्यवस्था का कारण है। इन तीनों के पारस्परिक सहयोग के असंतुलन से शरीर विकृत हो जाता है। कई प्रकार की बीमारियों से ग्रस्त होकर, आत्मा का शरीर से सम्बंध विच्छेद होने से मृत्यु हो जाती है। मन से सम्बंध विच्छेद होने पर पागलपन हो जाता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में, अध्यात्म की भूमिका पर खड़े होकर चिंतन किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि बीमारी का मूल है— कषाय। उत्तेजना, अहं, वंचना, तृष्णा आदि ऐसे मनोभाव हैं जो मन के भीतरी परतों के नीचे रहकर भी अपना काम करते रहते हैं। वस्तुतः उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि चिकित्सा जगत में आज कई प्रकार की चिकित्सा पद्धतियां प्रचलित हुई है फिर भी बीमारियां निरंतर बढ़ती जा रही है। इसका मूल कारण है— चिकित्सक बीमारियों के जड़ तक नहीं पहुंच पाए हैं। हमें मूल तक पहुंचना होगा।

5.6.3 चिकित्सा में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

चिकित्सा जीवन विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। जीवन विज्ञान में स्वास्थ्य से सम्बन्धित समस्याओं को समझने, कारणों का पता लगाने तथा उनका निराकरण करने में सहायता मिलती है। स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए जीवन विज्ञान में प्रायोगिक अभ्यास कराया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर व्यवहार को बदलने और समझने की क्षमता होती है। जीवन विज्ञान के प्रयोगों के द्वारा व्यक्ति की आन्तरिक क्षमताओं को जागृत किया जाता है। इससे वह अपनी दमित भावनाओं एवं व्यवहार के प्रति जागरूक होता है।

चिकित्सा के तीन क्षेत्र हैं— शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक। इन तीनों क्षेत्रों में जीवन विज्ञान निम्न प्रकार से कार्य करता है—

1. शारीरिक चिकित्सा— जीवन विज्ञान के दो पक्ष हैं— सैद्धान्तिक पक्ष एवं प्रायोगिक पक्ष। सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत अणुव्रत और प्रयोगिक पक्ष के अन्तर्गत प्रेक्षाध्यान सम्मिलित है। प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा के पाँच सूत्र बताए गये हैं— 1. भावक्रिया, 2. प्रतिक्रिया विरति, 3. मैत्री, 4. मिताहार, 5. मितभाषण। यह पाँचों ही शारीरिक चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं।

(क) भावक्रिया— भावक्रिया का अर्थ है— वर्तमान क्षण की प्रेक्षा। वर्तमान को जानना और वर्तमान में जीना ही भावक्रिया है। दूसरे शब्दों में जिस कार्य में लगे हुए हैं उसी में दत्तचित्त रहना। यांत्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना और कल्पना लोक में उड़ान भरते हुए कार्य करना द्रव्य क्रिया है। इससे शक्ति का अपव्यय होता है जो रोग को निमन्त्रण है।

(ख) प्रतिक्रिया विरति— क्रिया करना, प्रतिक्रिया न करना। मनुष्य प्रतिक्रिया का जीवन जीता है। वह बाह्य वातावरण और परिस्थिति से प्रभावित होकर कार्य करता है। हमें प्रतिक्रिया से बचना चाहिए तथा क्रिया का जीवन जीना चाहिए।

(ग) मैत्री— हमारा व्यवहार मित्रता से ओत—प्रोत होना चाहिए। उसमें मैत्री की भावना का पूर्ण विकास हो। हमें मैत्रीपूर्ण जीवन जीना चाहिए। इस उपसंपदा को स्वीकार करने का अर्थ है अपने जीवन में करुणा का विकास करना, प्राणी मात्र के प्रति सहानुभूति की भावना। प्रेक्षाध्यान की इस उपसंपदा को स्वीकार कर व्यक्ति अपने आपको शारीरिक रूप से स्वस्थ महसूस कर सकता है।

(घ) मिताहार— मिताहार का अर्थ है— कम खाना। भोजन का प्रभाव केवल स्वास्थ्य पर ही नहीं होता अपितु ध्यान और चेतना पर भी होता है। आदमी अनावश्यक बहुत खाता है। अनावश्यक भोजन विकृति पैदा करता है। अतः मिताहार के द्वारा शरीर को स्वस्थ रखा जा सकता है।

(1) मितभाषण– मितभाषण अर्थात् कम बोलना। बोलना भी आवश्यक होता है क्योंकि हम समाज में रहते हैं। यह ठीक है कि बोले बिना नहीं रहा जा सकता है परन्तु अनावश्यक न बोलें। अनावश्यक बोलने से शक्ति का अपव्यय होता है। मित्तभाषण से शक्ति का संचय होता है।

2. मानसिक चिकित्सा– शरीर स्थूल है, दृश्य है, हमें दिखाई देता है। मन सूक्ष्म है, अदृश्य है, उसे कार्य से जाना जाता है वह दिखाई नहीं देता। इन्द्रियों का संचालक है–मन। मन हमारे लिए उपयोगी है। इसलिए इसे स्वस्थ रखना हमारा दायित्व है। मानसिक स्वास्थ्य की चार कसौटियां है–1. सहिष्णुता, 2. धृति, 3. स्मृति और 4. बुद्धि।

मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए मन के बल को बनाए रखना आवश्यक है तथा इन चारों को स्वस्थ रखना भी बहुत जरूरी है। निरन्तर स्मृति, चिंतन, कल्पना करने से मन बीमार हो जाता है। मानसिक स्वास्थ्य के लिए जीवन विज्ञान के निम्न सूत्र महत्त्वपूर्ण हैं–

(क) महाप्राण ध्वनि– यह हमारे मस्तिष्क के ज्ञान तंतुओं को शक्तिशाली बनाती है। महाप्राण ध्वनि के प्रयोग से न कल्पना शेष रहती है न चिंतन। मन खाली हो जाता है। मानसिक स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण प्रयोग है– महाप्राण ध्वनि। चूंकि ध्वनि का अपना विज्ञान है। यह तरंगों का निर्माण करती है और मस्तिष्क और मन को प्रभावित करती है।

(ख) सर्वेन्द्रिय संयम मुद्रा– हमारी इन्द्रियां मन की दुर्बलता को बढ़ाती हैं। ये मन को विषयों की ओर ले जाती हैं। हम एक बार बाह्य जगत से अपना सम्पर्क काट दें तथा इन्द्रियों को विश्राम दें तो मन का अपने आप विश्राम हो जाता है। सर्वेन्द्रिय संयम मुद्रा का प्रयोग मन का बाह्य जगत से सम्पर्क काटने का उपाय है।

(ग) लेश्याध्यान– एक प्रयोग है सफेद व हरे रंग के ध्यान का। हरा रंग अन्तर्मुखी बनाने वाला है। यह विजातीय तत्त्वों को दूर करता है। दर्शन केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान करने से मन शांत होता है। ज्योतिकेन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान भी मानसिक स्वास्थ्य के लिए महत्त्वपूर्ण है।

(घ) निर्विचारिता– निर्विचारता का अर्थ है विचारों से मुक्त रहना। जो व्यक्ति अपने मन को विचारों से खाली रखता है, उसका विकास हो जाता है, इसलिए निर्विचारता का अभ्यास जरूरी है। निर्विचारता का जितना–जितना प्रयोग है मन को स्वस्थ बनाए रखने का उपाय है।

(ड.) दीर्घश्वास– जो व्यक्ति दीर्घश्वास प्रेक्षा का प्रयोग करता है वह मन को खाली रख सकता है। एकाग्रता मन के लिए सबसे बड़ा टॉनिक है।

3. भावनात्मक चिकित्सा– शरीर एवं मन बाह्य जगत में अभिव्यक्त होने वाले तत्त्व हैं। भावनात्मक स्वास्थ्य हमारे अंतर्जगत् का प्रश्न है। भीतर जगत् में कुछ ऐसी घटनाएं होती है जिनकी अभिव्यक्ति को हम जानते हैं किन्तु उनके मूल में जो है, उसे शायद बहुत कम जानते हैं। मूल है भाव। भाव सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। सकारात्मक भाव, समता, विनम्रता, ऋजुता आदि मन और शरीर दोनों को स्वस्थ बनाते हैं, वहीं नकारात्मक भाव, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, माया आदि मन और शरीर दोनों को अस्वस्थ बनाते हैं। भावों का परिष्कार अपने स्वास्थ्य का परिष्कार है। भावजगत् अन्तर का जगत् है। इसे स्वस्थ रखने के लिए जीवन विज्ञान में निम्न प्रयोग निर्दिष्ट हैं–

(क) अन्तर्दृष्टि का प्रयोग– दर्शनकेन्द्र पर ध्यान करने से अर्न्तदृष्टि जागृत होती है। जब अन्तर्दृष्टि जागृत होती है तब भावजगत् के संघर्ष पर हम विजय प्राप्त कर लेते हैं।

(ख) शांति केन्द्र पर ध्यान– एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है–शांति केन्द्र। इस केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान करने से हमारी भावधारा परिष्कृत होती है क्योंकि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का संगम बिंदु है–हाइपोथैलेमस शांतिकेन्द्र पर ध्यान करने से हाइपोथैलेमस सक्रिय होता है जिससे भावधारा के परिष्कार में सहायता मिलती हैं।

उपरोक्त प्रयोग चिकित्सा के लिए महत्त्वपूर्ण व उपयोगी है।

5.7 सामाजिक जीवन में जीवन विज्ञान

5.7.1 समाज : अर्थ

समाज स्वयं एक व्यवस्था है जिसका निर्माण व्यक्ति ओर समूह की अन्तःक्रियाओं के द्वारा होता है। सामान्य शब्दों में कहें तो किसी विशेष उद्देश्य से ओत–प्रोत व्यक्तियों का समूह समाज है। वस्तुतः समाज क्या है? इस पर अनेक विचारधाराएं सामने आई है।

हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार– समाज एक जीव–रचना है। जीव रचना के समान ही समाज का भी निर्माण होता है और जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग पृथक् होते हुए भी कार्यात्मक रूप से एक–दूसरे के पूरक है, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंगों में कार्यात्मक एकता पाई जाती है। समाज का निर्माण भी कुछ कोशिकाओं से होता है। समाज की कोशिकाएं बहुत से व्यक्ति हैं जिनका समाज से बाहर रहकर कुछ भी अस्तित्व नहीं है।

तात्पर्य यह है कि व्यक्ति और समाज का गहरा संबंध है। समाज में रहने वाले व्यक्ति के आधार पर समाज को दो भागों में विभाजित किया जाता है– रुग्ण और स्वस्थ समाज। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार स्वस्थ समाज के तीन लक्षण हैं–

(क) जिस समाज में काम पर नियंत्रण किया जाता है, वह स्वस्थ समाज है।

(ख) जिस समाज में अनावश्यक हिंसा नहीं होती, वह स्वस्थ समाज है।

(ग) जिस समाज में आर्थिक अपराध नहीं होता, वह स्वस्थ समाज है।

आधुनिक युग में समाज की ओर दृष्टिपात किया जाए तो पता चलता है कि आज के समाज में उपरोक्त तीनों ही लक्षण बहुत कम पाए जाते हैं। समाज में हिंसा, अपराध, काम–वासना बढ़ती जा रही है। समाज में बढ़ती हुई रुग्णता को कम करना तथा स्वस्थ समाज की संरचना के लिए जीवन विज्ञान एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। जहॉ समाज है वहां समस्या न हो ऐसा सम्भव नहीं। समाज की मुख्य समस्याएं है– (1) नैतिक मूल्यों की कमी, (2) रूढ़िवादिता, (3) जाति–भेद समस्या, (4) दहेज प्रथा, (5) बाल विवाह, (6) वैचारिक भिन्नता, (7) प्रदर्शन (आडम्बर), (8) भ्रूणहत्या। जीवन विज्ञान इन समस्याओं का सीधा उपाय है।

5.7.2 समाज में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

1. **व्यक्ति का परिष्कार–** कहा जाता है आज का युग समस्याओं का युग है। समस्याओं का मुख्य कारण है– असद् व्यवहार। आज समाज में जितनी रुग्णता फैली है, जितनी बुराइयां पनप रही हैं, उनका मुख्य कारण है– मिथ्या व्यवहार। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ के घेरे में बद्ध है। केवल स्वयं के लिए सोचता है, स्वयं के लिए काम करता है, स्वयं के लिए ही सब कुछ। अपेक्षा है इस मनोवृत्ति का परिष्कार हो। इस मनोवृत्ति के परिष्कार के लिए दृष्टिकोण को बदलना आवश्यक है। जीवन विज्ञान के प्रयोगों द्वारा दृष्टिकोण का परिष्कार सम्भव है। जो व्यक्ति भीतर रहते हुए बाहर जीता है उसका व्यवहार परिवर्तित हो जाता है और वह समाज में परस्परता तथा मैत्री के साथ रहने लगता है। व्यक्ति का परिष्कार समाज के लिए बहुत आवश्यक है जो जीवन विज्ञान के द्वारा संभव है।

2. **सामाजिक मूल्यों का विकास–** व्यक्ति–व्यक्ति में मूल्यों का विकास होना चाहिए। जहां मूल्यों को महत्त्व दिया जाता है, वहां स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। रूढ़िवादिता, जाति–भेद की समस्या, नैतिक मूल्यों का अभाव ये सब रुग्ण समाज के लक्षण हैं, जीवन विज्ञान एक मूल्यपरक शिक्षा है। इसके द्वारा अहिंसा, समन्वय, सहिष्णुता, नैतिकता आदि सामाजिक मूल्य प्राप्त होते हैं। अतः जीवन विज्ञान की सहायता से समाज में रहने वाले व्यक्ति–व्यक्ति में सामाजिक मूल्यों की चेतना जागृत कर स्वस्थ समाज का निर्माण किया जा सकता है।

3. **अनेकान्त का व्यवहारिक प्रयोग–** व्यक्ति का अनेकान्तिक दृष्टिकोण समाज को सफलता के पथ पर ले जाता है। जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण एकान्तिक होगा, तब तक वह सिर्फ अपने को ही सही

समझेगा। यही आग्रह की भावना लोगों में एक–दूसरे के प्रति द्वेष की भावना को बढ़ाती है। समाज में व्याप्त समस्याओं के निराकरण के लिए अनेकांत का व्यावहारिक प्रयोग बहुत ही आवश्यक है क्योंकि अनेकान्त के प्रयोग से ही व्यक्ति समझ सकता है कि सभी विचार अलग–अलग दृष्टिकोण से सही हैं। अनेकांत जीवन विज्ञान की एक प्रविधि है।

4. **व्रतों का विकास–** व्रत का सामान्य अर्थ है– नियम। समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा छोटे–छोटे व्रतों का ग्रहण किया जाना बहु है। छोटे–छोटे व्रत व्यक्ति को अध्यात्म की ओर प्रेरित करते हैं। जब व्यक्ति व्रतों को अपना लेता है तब वह समाज में भ्रष्टाचार, अत्याचार नहीं करता। सभी के साथ सामंजस्य का व्यवहार करता है। जीवन विज्ञान में अणुव्रत के 12 नियम निर्देशित हैं जो व्यक्ति को अध्यात्म का मार्ग दिखाते हैं। व्रतों का विकास करके ही व्यक्ति समाज को सही पथ पर ले जा सकते हैं।

5.8 उद्योग में जीवन विज्ञान

5.8.1 उद्योग : अर्थ

आज हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि इस विशाल देश के नव निर्मित बड़े–बड़े कारखानों का, इस कृषि प्रधान देश की खेती–बाड़ी का और अन्य छोटे–बड़े उद्योगों का संचालन सुचारु रूप से किस प्रकार किया जाये?

प्रारम्भ में जब उद्योग में मनोविज्ञान का कोई हाथ नहीं था, उस समय उचित कर्मचारी के चयन के लिए वैयक्तिक भिन्नताएं जैसी समस्या पर कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब उद्योगों को मनोविज्ञान का चोला पहनाया गया तो उस समय भी इस विचारधारा को कोई विशेष मान्यता प्राप्त नहीं हुई। उद्योगपतियों का विचार था कि उचित चयन और मार्गदर्शन तथा प्रशिक्षण के द्वारा कर्मचारी से कोई भी कार्य करवाया जा सकता है लेकिन धीरे–धीरे अनुसंधानकर्त्ताओं ने अपने शोध कार्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि प्रत्येक कर्मचारी प्रत्येक कार्य को सुचारु रूप से नहीं कर सकता चाहे उसका चयन कितनी ही सावधानीपूर्वक किया गया हो। इसके पश्चात उन्होंने अनुभव किया कि प्रत्येक कर्मचारी को एक जैसी सुविधा एवं तकनीकी प्रशिक्षण देने के बावजूद भी उसे कार्य–विशेष के लिए पूर्णतः उपयोगी नहीं बनाया जा सकता। एक जैसी मशीन, एक जैसा औद्योगिक वातावरण एवं एक जैसी सुविधाओं के बावजूद कर्मचारी के उत्पादन के परिणाम और गुणों में बहुत बड़ा अन्तर होता है। एक कर्मचारी 8 घंटे में जितना उत्पादन करता है दूसरा कर्मचारी उतने ही समय में उससे डेढ़ गुना या दो गुना अधिक उत्पादन कर देता है।

मनोवैज्ञानिकों ने इस भिन्नता का कुछ भी कारण माना हो जीवन विज्ञान के अनुसार वैयक्तिक योग्यता की भिन्नता का एक बहुत बड़ा कारण है– अस्वस्थता। व्यक्ति तीन प्रकार से अस्वस्थ होते हैं– शारीरिक रूप से, मानसिक रूप से एवं भावनात्मक रूप से। यदि कर्मचारी इन तीनों में से किसी भी रूप में प्रभावित है, अस्वस्थ है तो उत्पादन का स्तर निम्न होगा। वह चाहते हुए भी उत्पादन के साथ न्याय नहीं कर पाएगा। उत्पादन बढ़े इसके लिए पहली शर्त है– कर्मचारी शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक तीनों प्रकार से स्वस्थ हो।

उत्पादन का स्तर गिरने में एक बहुत बड़ा कारण है कर्मचारियों की अस्वस्थता तो दूसरा कारण है उद्योगपतियों द्वारा शोषण। उद्योगपति समाज के बहुत बड़े वर्ग का शोषण करते हैं, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों का संचालन और नियंत्रण करने वाले उद्योगपति मजदूर की मेहनत और किसान की लागत तक नहीं देना चाहते। उद्योगपति अधिक से अधिक उत्पादन चाहता है, मजदूर अधिक से अधिक वेतन चाहता है। उत्पादन के लिए उद्योगपति भौतिक वस्तुओं पर अधिक ध्यान देता है और हड़ताल के समय मानवतावादी दृष्टिकोण की बात करता है। परिणामस्वरूप मालिक–मजदूर का संतुलन बिगड़ जाता है। संतुलन के बिगड़ते ही उत्पादन की दशा छिन्न–भिन्न होने लगती है।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम सब एक ऐसी व्यवस्था निर्धारित करें और व्यवहार में लाएं जो उपरोक्त समस्याओं को सुलझा सके। जीवन विज्ञान इन समस्याओं के समाधान के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है क्योंकि जीवन विज्ञान के प्रयोगों के द्वारा कर्मचारियों को तीनों प्रकार की स्वस्थता प्रदान की जा सकती है तथा उद्योगपतियों में संवेदनशीलता का जागरण किया जा सकता है। निम्नांकित बिंदुओं द्वारा हम जीवन विज्ञान की उपयोगिता को स्पष्ट कर सकते हैं।

5.8.2 उद्योग में जीवन विज्ञान की उपयोगिता

(अ.) कर्मचारी तथा कार्य– कार्य का सम्बंध उत्पादन तथा मशीन से होता है। अच्छे उत्पादन के लिए आवश्यकता है प्रत्येक कार्य को उचित व सुयोग्य कर्मचारी को दिया जाये या फिर जो मजदूर उद्योग में कार्यरत है, उनकी योग्यता बढ़ाई जाए। योग्य कर्मचारी की मांग की पूर्ति यदि कोई कर सकता है तो वह है– जीवन विज्ञान। जीवन विज्ञान केवल तकनीकी प्रशिक्षण नहीं है इसके छोटे–छोटे प्रयोगों के द्वारा मजदूर की शारीरिक, मानसिक क्षमताओं का विकास किया जा सकता है।

(ब.) संवेदनशीलता– आज उद्योगपतियों के करुणा का स्रोत सूख रहा है, वे दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते। उद्योगपति और कर्मचारी के बीच प्रेमपूर्ण वातावरण नहीं हैं जबकि यदि उद्योगपति का व्यवहार कर्मचारी को संतुष्ट रखे तो कर्मचारी मेहनत से अपने कार्य को निश्चित समय में पूरा करेंगे। आवश्यकता है निरीक्षक या उद्योगपति के व्यवहार में अपनेपन का जागरण हो। वे कर्मचारी की भौतिक और मानवीय आवश्यकताओं का ध्यान रखें। उद्योगपति में संवेदनशीलता का विकास हो। जीवन विज्ञान के द्वारा इसका विकास सम्भव हो सकता है।

(स.) स्वभाव–परिष्कार– मालिक और मजदूर के बीच सौहार्दपूर्ण व्यवहार रहना चाहिए। मालिक केवल स्व–लाभ की बात न सोचे और लालच के वशीभूत होकर कर्मचारी की मांग को न ठुकराए और न शोषण करें। मजदूर भी मालिक के समक्ष विनम्रता से पेश आएं, इसके लिए आवश्यक है दोनों के स्वभाव में परिवर्तन हो। जीवन विज्ञान स्वभाव परिवर्तन का अचूक उपाय है।

(द.) कर्मचारी–कर्मचारी संबंध– आज समस्या इस बात की है कि न केवल उद्योगपति और मजदूर के बीच कटु संबंध है अपितु कर्मचारी–कर्मचारी भी कुछ स्वार्थों के कारण लड़ते–झगड़ते, कलह करते रहते हैं। स्वयं को अच्छा दिखाने के लिए दूसरे की निंदा या गलतियां निकालने में विश्वास रखते हैं। इस व्यवहार से शक्ति का अनावश्यक अपव्यय होता है। आवश्यकता है मजदूर–मजदूर में भी भाईचारा बढ़े, सौहार्द बढ़े। जीवन विज्ञान के प्रयोग इसके लिए उपयोगी हो सकते हैं।

(य.) स्वास्थ्य– स्वास्थ्य आज की बहुत बड़ी समस्या है। अधिक मेहनत करने के कारण कर्मचारी का स्वास्थ्य गिर जाता है, अतः उद्योगपति को चाहिए कि वह अपने मजदूरों के स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखे और उनका उत्साहवर्धन भी करें। यदि कर्मचारी का स्वास्थ्य ही ठीक नहीं रहेगा तो वह ठीक से कार्य भी नहीं कर पाएगा। यदि मालिक मैत्रीपूर्ण व्यवहार करें तो यह एक टॉनिक के रूप में कार्य कर सकता है और इससे कर्मचारी की शक्ति का भी बचाव हो सकता है और कर्मचारी कुशलतापूर्वक कार्य भी कर सकते हैं। स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए जीवन विज्ञान के प्रयोग सफल हो सकते हैं।

बोध प्रश्न–2

1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखिये–

1. चिकित्सा के क्षेत्र में जीवन विज्ञान किस तरह उपयोगी है?
2. स्वस्थ समाज किसे कहते हैं एवं जीवन विज्ञान द्वारा स्वस्थ समाज का निर्माण कैसे सम्भव है? अपने विचार प्रस्तुत करें।
3. उद्योग में जीवन विज्ञान की उपयोगिता को स्पष्ट करें।

2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक वाक्य में दें–

1. कर्मचारी के लिये सबसे बड़ा टॉनिक क्या है?
2. समस्याओं का मुख्य कारण क्या है?
3. जीवन विज्ञान द्वारा कौन–कौन से सामाजिक मूल्यों की प्राप्ति होती है?
4. उत्पादन का स्तर गिरने के दो कारण बतायें।
5. आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में बीमारी का मूल कारण क्या है?
6. अन्तर्दृष्टि को जागृत करने वाले केन्द्र का नाम क्या है?